* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

मूल्य १० रुपये
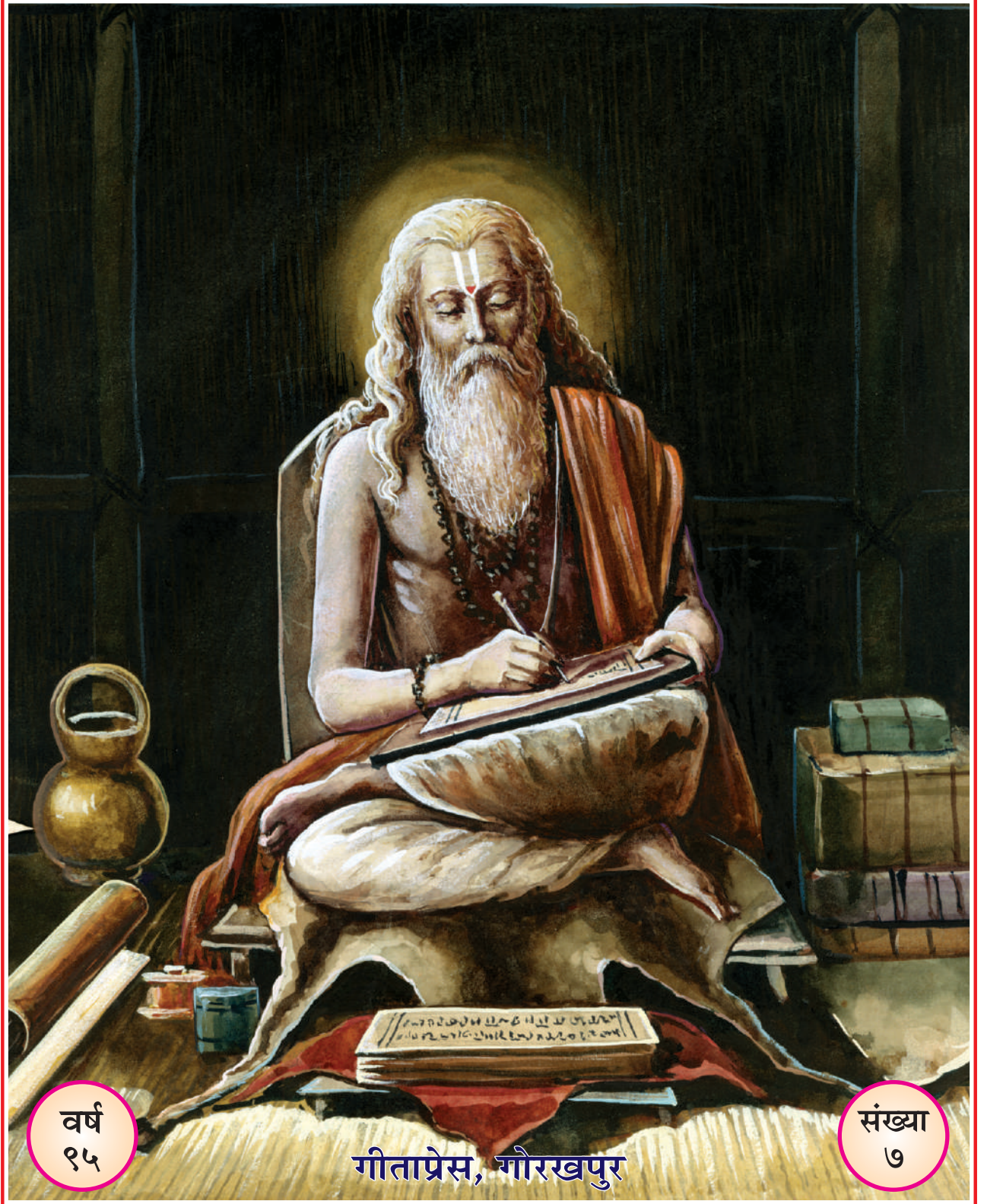
महर्षि वेदव्यास

भगवान् श्रीभवानीशंकरकी वन्दना

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

यतो वेदवाचो विकुण्ठा मनोभिः सदा नेति नेतीति यत्ता गृणन्ति।
परब्रह्मरूपं चिदानन्दभूतं सदा तं गणेशं नमामो भजामः॥

वर्ष ९५

गोरखपुर, सौर श्रावण, वि० सं० २०७८, श्रीकृष्ण-सं० ५२४७, जुलाई २०२१ ई०

संख्या ७

पूर्ण संख्या ११३६

भगवान् श्रीभवानीशंकरकी वन्दना

कर्पूरगौरं करुणावतारं
संसारसारं भुजगेन्द्रहारम्।
सदा वसन्तं हृदयारविन्दे
भवं भवानीसहितं नमामि॥

(शिवपुराण, ज्ञानसंहिता ६८। १८)

कर्पूरके समान गौर वर्णवाले, करुणाके अवतार, विश्वके मूल कारण, गलेमें नागराजका हार धारण करनेवाले तथा हृदयकमलमें सदा विराजमान रहनेवाले भगवान् शिवको भवानीसहित मैं प्रणाम करता हूँ।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,००,०००)

कल्याण, सौर श्रावण, वि० सं० २०७८, श्रीकृष्ण-सं० ५२४७, जुलाई २०२१ ई०, वर्ष ९५—अंक ७

विषय-सूची

विषय **पृष्ठ-संख्या**

चित्र-सूची

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

एकवर्षीय शुल्क ₹ २५०

पंचवर्षीय शुल्क ₹ १२५०

विदेशमें Air Mail **शुल्क** — **वार्षिक** US$ 50 (₹ 3,000) / **पंचवर्षीय** US$ 250 (₹ 15,000) — Us Cheque Collection Charges 6$ Extra

संस्थापक—**ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका**

आदिसम्पादक—**नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार**

सम्पादक—**प्रेमप्रकाश लक्कड़**

केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालय के लिये गीताप्रेस, गोरखपुर से मुद्रित तथा प्रकाशित

website : **gitapress.org**	e-mail : **kalyan@gitapress.org**	✆ **09235400242 / 244**

सदस्यता-शुल्क—**व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय', पो० गीताप्रेस—२७३००५, गोरखपुर को भेजें।**

Online सदस्यता हेतु gitapress.org पर **Kalyan** या **Kalyan Subscription** option पर click करें।

अब 'कल्याण' के मासिक अङ्क gitapress.org अथवा **book.gitapress.org** पर नि:शुल्क पढ़ें।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥ हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥ हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥ हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।

साधनाका रहस्य

साधनाके क्षेत्रमें दो भिन्न मार्ग स्पष्ट दिखायी देते हैं—एक करनेवाला और दूसरा होनेवाला।

उद्यमी साधक, जिन्हें अपने 'करनेपर भरोसा' है या जो मानते हैं कि बिना किये कुछ नहीं हो सकता, वे भिन्न-भिन्न प्रकारकी क्रियाओंके सहारे आगे बढ़ते हैं, स्वभावतः मार्ग लम्बा हो सकता है। यह 'करनेवाला' रास्ता है—पिपीलिका मार्ग।

दूसरे वे साधक हैं, जिन्हें 'होनेपर भरोसा' है; वे मानते हैं कि अपने करनेकी सीमा बहुत छोटी है और भटकावका खतरा भी है। अतः वे भावुक प्रकृतिके हुए तो समर्पणका और बुद्धिजीवी हुए तो ज्ञानका मार्ग पकड़ते हैं। वह 'होनेवाला' रास्ता है—विहंगम मार्ग।

वस्तुतः साधनाका रहस्य यह है कि हमें वही पाना है, जो हमारा सच्चा स्वरूप है; तो देरका कोई प्रश्न नहीं, केवल अहंकारकी धुन्ध मिटनी है; जो भगवत्कृपा, सन्तकृपा या आत्मज्ञानसे तत्काल मिट जाती है, जैसे सूरज उगनेसे अन्धकार।

—सम्पादक

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥ हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥ हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥ हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥ हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥ हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

कल्याण

याद रखो—इस संसारमें कुछ भी नित्य, स्थायी, अपरिवर्तनशील नहीं है। सभी कुछ अनित्य है, सभी कुछ विनाशी है, सभी कुछ मृत्युके अनन्त प्रवाहमें बह रहा है। इसीलिये यहाँ कुछ भी 'तुम्हारा' नहीं है। तुम इन नित्य मृत्युमय प्रकृतिके पदार्थोंको और कर्मवश तुमसे मिले हुए प्राणियोंको 'मेरा' मानकर मोहमें पड़ जाते हो, उन्हें पकड़ने जाते हो, उन्हें नित्य अपने पास रखना चाहते हो; पर तुम्हें निराश होना पड़ता है, वे तुम्हारे हाथ नहीं आते और पास आये हुए भी छिन जाते हैं—इसीलिये कि वे तुम्हारे नहीं हैं और तुम्हें ममता-मोहके कारण शोकयुक्त होना और रोना पड़ता है। फिर भी तुम समझते नहीं, उन्हें नित्य मानकर पकड़े रखना ही चाहते हो!

याद रखो—तुम जिन खेत-जमीनको और ईंट, पत्थर, रोड़े, लोह-लक्कड़के ढाँचेको मेरा महल या मेरा आश्रम कहकर मन-ही-मन गर्व करते हो, उसमें तुम्हारा कुछ भी नहीं है। जिस जमीनपर वह ढाँचा खड़ा है, वह जमीन भी तुम्हारी नहीं। पर इस मिथ्या ममत्वके कारण तुमको दुखी होना तथा रोना पड़ता है। यह देखते हो कि जिसने सुन्दर मकान बनाया, वह मर गया, उसकी लाशको मकानसे बाहर निकाल फेंका गया, उसे आगमें फूँक दिया या जमीनमें गाड़ दिया गया। फिर उस मकानमें उसका कुछ भी अधिकार नहीं रहा, किसी भी कारणसे किसी दूसरेका उसमें निवास हो गया और वह उसे 'मेरा' कहने लगा। फिर भी तुम समझते नहीं और ईंट-पत्थर तथा लोह-लक्कड़को 'मेरा' कहकर उनसे सिर फोड़ा करते हो!

याद रखो—जगत्‌में बहुत बड़े-बड़े प्रभावशाली, शक्तिमान्, अपनेको अनन्तपदार्थों और प्राणियोंके एकमात्र स्वामी माननेवाले हुए और मर गये। उनमेंसे बहुतोंका तो नाम-निशान भी आज नहीं मिलता। फिर तुम जो तुच्छ पदार्थोंमें मोह करके उन्हें 'मेरा' कहते हो और अपनेको ममताके बन्धनमें जकड़कर दिन-रात दुखी रहते हो, यह तुम्हारी बड़ी मूर्खता है। मूर्खता ही नहीं ममताके कारण जो आसक्ति होती है और उससे अनाचार, दुराचार तथा पाप मन-वाणी-शरीरसे बनते हैं, उनका दुष्परिणाम भी तुम्हें भोगना पड़ेगा। फिर भी तुम समझते नहीं और इन प्राणी-पदार्थोंमें 'मेरापन' छोड़ना नहीं चाहते!

याद रखो—बड़े-बड़े महल ढह गये, बड़े-बड़े नगर भूमिसात् हो गये। देश-के-देश जलमें डूब गये या भूमिके तलमें प्रवेश कर गये। तुम जिनको 'मेरा' मानकर और मेरे कहकर मोहमें पड़े हुए हो, वे सभी पदार्थ नाश होनेवाले हैं, उनका नाम-निशान भी नहीं रहेगा। तुम कितनी बड़ी भूल कर रहे हो, जो उन जमीन-मकान तथा पदार्थोंके लिये दूसरोंसे लड़ते-झगड़ते हो, अपने तथा उनके मनकी शान्तिका नाश करते हो, भगवान्‌को भूलकर दूसरोंको परास्त करनेकी, उनपर विजय प्राप्त करनेकी, उनकी 'मेरी' मानी हुई चीजोंको अपनी 'मेरी' बनानेकी तथा अपनी 'मेरी' मानी हुई चीजोंसे चिपटे रहनेकी चाह और कोशिश करते हो। तुम्हारे जीवनका यह प्रमाद तुम्हारे लिये बड़ा ही घातक, बड़ा ही हानिकारक सिद्ध होगा। फिर भी तुम समझते नहीं और अपने ही हाथों अपनी असीम हानि कर रहे हो!

याद रखो—संसारके अन्यान्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या है, जिस शरीरको तुम केवल 'मेरा' ही नहीं कहते, 'मैं' कहकर पुकारते हो, जिसकी अस्वस्थतामें 'मैं अस्वस्थ हूँ', जिसके मरनेकी बातपर 'मैं मर जाऊँगा' कहते हो—वह भी तुम्हारा नहीं है। वह पाँच भूतोंका पुतला है—जो प्राणसहित तुम चेतनके विलग होते ही मुर्दा होकर पड़ जायगा और जिससे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा। फिर भी तुम नहीं समझते और इस नश्वर पांचभौतिक पुतलेको 'मैं' और 'मेरा' पुकार-पुकारकर अपनी मूर्खताकी वज्र-घोषणा करते हो और अनवरत अनिष्टकारी पाप-तापके संग्रहमें लगे रहते हो!

याद रखो—जिस आराम और नाम-यशके लिये तुम दिन-रात परेशान रहते हो, वह 'आराम' तुमको नहीं होगा, और न वह 'नाम-यश' ही तुम्हारा होगा। आराम मिलता है—शरीरको और नाम-यश होता है नामका। तुम न 'शरीर' (रूप) हो और न 'नाम' हो। तुम तो आत्मा हो, शुद्ध-बुद्ध नित्य-मुक्त हो, अपने स्वरूपको पहचानते ही सब दुःखोंसे छूट जाओगे; फिर भी तुम नहीं समझते और मिथ्या नाम-रूपके फेरमें पड़े दुःख-पर-दुःख बुलाये चले जा रहे हो। **'शिव'**

आवरणचित्र-परिचय—

महर्षि वेदव्यास
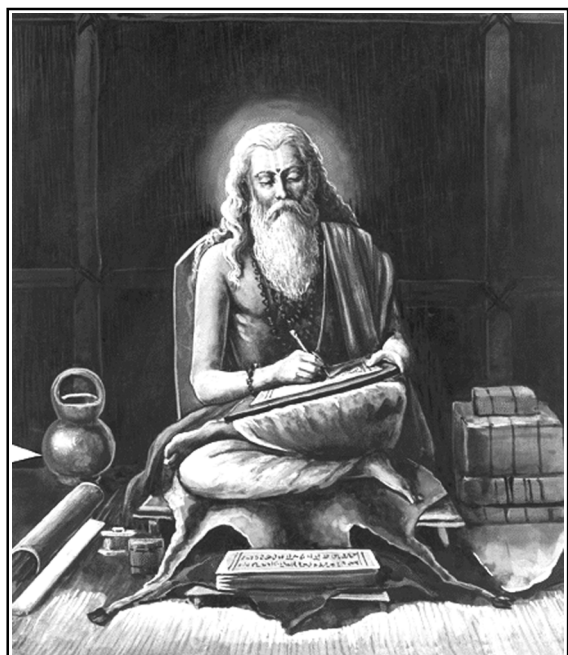
ज्ञाननिधि श्रीव्यासदेव भगवान् नारायणके कलावतार थे। व्यासजीके पिताका नाम महर्षि पराशर तथा माताका नाम सत्यवती था। जन्म लेते ही इन्होंने अपनी मातासे जंगलमें जाकर तपस्या करनेकी इच्छा प्रकट की। प्रारम्भमें माता सत्यवतीने इन्हें रोकनेका प्रयास किया, किंतु अन्तमें इनके माताके स्मरण करते ही लौट आनेका वचन देनेपर उन्होंने इनको वन जानेकी आज्ञा दे दी।

यमुनाजीके द्वीपमें जन्म होनेके कारण व्यासजीको द्वैपायन, सघन कृष्णवर्णके कारण कृष्ण, वेदोंका विभाजन करनेके कारण वेदव्यास तथा बदरीवनमें तपस्या करनेके कारण बादरायण कहा जाता है। इन्हें अंगोंसहित सम्पूर्ण वेद, पुराण, इतिहास और परमात्मतत्त्वका ज्ञान जन्मसे ही था। अनादि पुराणको लुप्त होते देखकर तथा वेदोंके गूढ़ रहस्योंको सर्वजनगम्य बनाने उद्देश्यसे भगवान् कृष्णद्वैपायनने महापुराणोंसहित अनेक पुराण-संहिताओंका प्रणयन किया और विश्व-साहित्यके अनुपम ग्रन्थरत्न महाभारतकी रचना की, जो अपने विषय-वैभवके कारण भारतीय संस्कृतिका विश्वकोश कहा जाता है। महाभारत अपनी महनीयताके कारण वेदवत् आदरणीय तथा पंचम वेदके नामसे प्रसिद्ध है। श्रीमद्भागवतके रूपमें भक्तिका सार-सर्वस्व इन्होंने मानवमात्रको सुलभ कराया और ब्रह्मसूत्रके रूपमें तत्त्वज्ञानका अनुपम ग्रन्थ-रत्न प्रदान किया। व्यास-स्मृतिके द्वारा व्यासदेवने मनुष्योचित जीवनचर्याका उपदेश किया, जिसका फल लोक-परलोककी सिद्धि है।

शुद्धात्मा व्यासजी विपत्तिग्रस्त पाण्डवोंकी समय-समयपर पूरी सहायता करते रहे। इन्होंने संजयको दिव्य दृष्टि प्रदान की थी, जिससे संजयने महाभारतका युद्ध प्रत्यक्ष देखनेके साथ-साथ श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे निःसृत श्रीमद्भगवद्गीताका भी श्रवण किया। महर्षि व्यासकी शक्ति अलौकिक थी। महाभारत-युद्धके उस महाविनाशसे धर्मराज युधिष्ठिर तथा पुत्रशोकसे धृतराष्ट्र अत्यन्त व्याकुल थे। उन्होंने श्रीव्यासजीसे अपने मरे हुए कुटुम्बियों और स्वजनोंको देखनेकी इच्छा प्रकट की। महर्षि व्यासके आदेशानुसार धृतराष्ट्र आदि गंगातटपर पहुँचे। व्यासजीने गंगाजलमें प्रवेश किया और दिवंगत योद्धाओंको पुकारा। जलमें युद्धकाल-जैसा कोलाहल सुनायी देने लगा। देखते-ही-देखते दोनों पक्षोंके योद्धा निकल आये। सबकी वेष-भूषा और वाहनादि पूर्ववत् थे। सभी ईर्ष्या-द्वेषसे शून्य और दिव्य देहधारी थे। वे सभी लोग रात्रिमें अपने पूर्व सम्बन्धियोंसे मिले और सूर्योदयसे पूर्व भागीरथी गंगामें प्रवेश करके अपने दिव्य लोकोंको चले गये। भगवान् व्यासके महान् अवदानोंके लिये मानव-समाज सर्वदा उनका ऋणी रहेगा।

महर्षि व्यास आज भी अमर हैं। समय-समयपर प्रकट होकर ये अधिकारी पुरुषोंको अपना दर्शन देकर कृतार्थ किया करते हैं। भगवान् श्रीआद्यशंकराचार्य, श्रीसुरेश्वराचार्य एवं श्रीमध्वाचार्य आदिको उनके दर्शन हुए थे। मनुष्यजातिपर उनके अनन्त उपकार हैं। इस मास होनेवाले गुरुपूर्णिमा-पर्वपर हम उनका कृतज्ञतापूर्वक पावन स्मरण करते हैं।

भगवत्प्राप्ति करानेवाला अत्यन्त सरल सुगम साधन

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

शास्त्रोंमें भगवत्प्राप्तिके लिये अनेक साधन बतलाये गये हैं, परंतु उनमें भी एक ऐसा सरल साधन है, जिसके कार्य-कालमें तथा लक्ष्यकी पूर्तिमें आनन्द-ही-आनन्द है। अन्य साधनोंके कार्यकालमें पहले कष्ट होता है और परिणाममें सुख; किंतु इस साधनमें तो दोनों अवस्थाओंमें आनन्द ही होगा। हर समय आनन्द और प्रसन्नता रहेगी। अन्य साधनोंमें तो कष्ट होता है; किंतु इस साधनमें कष्ट भी न होगा। जिस साधनमें थोड़ा-बहुत कष्ट होता हो, उसको करनेमें तो शायद कई लोग न करें; परंतु जिस साधनमें किंचित् भी कष्ट न हो, वह साधन करनेमें तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि इसमें शान्ति और आनन्द दोनोंका अनुभव होता है। इसमें एक बात और भी विशेष है कि इसमें कभी जी नहीं भरता। छोटे-से-छोटे विषयानन्दके लिये आदमी कोशिश तो करता है, परंतु इन्द्रियोंद्वारा आनन्दका उपभोग करनेपर वह अघा जाता है। जैसे पेटभर भोजन करनेके बाद और स्वादिष्ट अन्न खानेकी इच्छा नहीं होती, उसी प्रकार अन्य विषयोंके आनन्दकी बात है, क्योंकि ये सब साधारण आनन्द हैं। इस साधनमें जो आनन्दकी बात है, वह अलौकिक होता है तथा कम न होते हुए उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। ऐसी अवस्थामें भी यदि कोई साधन करनेसे इनकार करे तो क्या किया जाय।

यह साधन बहुत सुगम, शास्त्र-सम्मत तथा युक्ति-संगत है। इसमें हर समय प्रसन्न और मुग्ध रहे। प्रभुकी अपनेपर बड़ी भारी दया है, अतएव अपना कल्याण जरूर होगा, इसमें किंचित् भी शंका न करे। हर समय भगवान्का स्मरण कर-करके प्रसन्न रहे। स्मरणमें मुग्ध हो जावे। प्रसन्नता और आनन्द तो भगवान्का ही स्वरूप है। किसी भी स्वरूपका स्मरण करो, क्योंकि सब भगवान्का ही तो स्वरूप है। या तो अपने इष्टदेवका स्मरण करो या भगवान्के किसी भी स्वरूपका, जैसे—नारायण, रामचन्द्र, शिव, कृष्ण तथा निराकार आदि। यदि कोई कहे कि भगवान्के स्मरणमें ठीक आनन्द नहीं प्रतीत होता, आनन्द प्रतीत नहीं होता हो तो न हो, किंतु शास्त्र उसे आनन्दघन ही कहते हैं। इसलिये सिद्ध है कि भगवत्स्मरणमें आनन्द-ही-आनन्द है, इसके सिवाय और कुछ नहीं है। आनन्दका प्रतीत न होना तो अपनी मान्यता है।

यदि साधक केवल मान ले कि 'भगवत्स्मरणमें आनन्द है तो उसे आगे जाकर आनन्द जरूर मालूम होगा' इसमें शंकाकी कोई बात ही नहीं। माननेमें ही तो कल्याण है। भगवान् दयासागर हैं। 'भगवत्स्मरणमें आनन्द मालूम होता है' यदि वह ऐसा मानने लग जाय तो भगवान् उसे आनन्दकी प्रतीति दयामय होनेसे जरूर ही करा देंगे। उनकी दयालुतामें सब बातोंके लिये गुंजाइश है। इस साधनसे निश्चय कल्याण होगा; क्योंकि प्रभुकी दया अपार है। उसकी सीमा नहीं है।

भगवत्स्वरूपके साथ उनके गुणोंकी, प्रभावकी, रहस्यकी, तत्त्वकी बातोंको याद करो और उनमें ही मुग्ध रहो। उन्हींका स्वरूप देखकर उसमें विभोर रहो। भगवान् आनन्दके सागर हैं। अपनेको आनन्दमें सदा डुबाये रखो। उसमेंसे बाहर ही न निकलो, डूबे रहो; क्योंकि भगवान् आनन्दस्वरूप हैं। जब उनके ही स्वरूपमें डूबे रहोगे तो आनन्द तो प्राप्त होगा ही। मन न माने तो उसकी परवाह मत करो। आनन्द-सागरमें डूबे ही रहो। न रह सको तो ऐसा समझते रहो कि 'इस साधनमें तथा उसके परिणाममें आनन्द-ही-आनन्द है। आनन्दके सिवाय और कुछ भी उसमें नहीं है। इतना ही नहीं आनन्दके सिवाय और किसी बातकी उसमें गुंजाइश ही नहीं है।'

भगवान्की तो बड़ी ही दया है। भगवान् यदि मनुष्य-जन्म नहीं देते तो हम स्वयं क्या कर सकते थे। उनपर अपना क्या जोर था। पहाड़ों तथा उनपर दीखनेवाले वृक्षोंका जन्म दे देते तो क्या कर सकते थे। परंतु यह भगवान्की अपार दया है कि हमें मनुष्य-जन्म दिया फिर भगवान्के स्मरणमें मुग्ध कैसे न हों? हमारा जन्म आर्यावर्तमें हुआ, जो कि आध्यात्मिकतासे भरी हुई भूमि है। अन्यत्रकी भूमि भोगभूमि है। यही एक अध्यात्मभूमि है, जिसमें

हमारा जन्म हुआ। यह कितनी सराहनीय बात है। अन्य जगह जन्म होता तो हम क्या कर सकते थे। इसके साथ-साथ यह गंगाजीका किनारा और वहाँ उसकी रेणुकामें भगवच्चर्चाका सुअवसर*। इतनी बातें एकत्र मिल जानेके बाद कल्याणमें क्या शंका हो सकती है। 'कल्याण तो निश्चय ही होगा' ऐसा माननेमें क्या आपत्ति। कल्याण निश्चित होगा, किंतु 'वह होना कठिन है' ऐसा कोई कहे तो विचार करें कि इसमें कठिनता कहाँ है? भगवान् दयासागर हैं। समुद्रमेंसे कितने ही लोटे जल निकाल लिया जाय तो क्या उसमें कमी हो सकती है? कभी नहीं। जो आदमी 'अपना कल्याण निश्चित होगा' ऐसा मान ले, उसका कल्याण होनेमें रत्तीभर भी शंका नहीं। उसका कल्याण तो होगा ही। किंतु यदि 'शायद कल्याण हो या न हो' ऐसा उसे मालूम पड़े तो उसका कल्याण होनेमें शंका ही समझिये।

भगवान् तो समस्त भूतसमुदायपर अहैतुकी दया करते हैं। फिर भी भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि भगवन्! मैं किसी लायक नहीं हूँ। मुझे निमित्त बनाकर आपको जो कुछ करना है सो आप कर लें। मैं कर ही क्या सकता हूँ और जो कुछ मेरे द्वारा बनता है, वह सब आपकी दयाका ही फल है।

आदमी जिसे प्रसन्न करना चाहता है, उसीकी स्तुति करता है, उसीका गुणगान करता है। हमें किसी आदमीको प्रसन्न करनेसे प्रयोजन नहीं है, हमें तो केवल भगवान्को ही प्रसन्न करना है। अतएव हमें चाहिये कि हम उन्हींकी स्तुति करें। स्तुति करते समय प्रेम न हो तो न सही, उसकी कोई परवाह नहीं, किंतु स्तुति जरूर करनी चाहिये। भगवान्पर भरोसा रखें कि अपनेमें प्रेम न होते हुए भी भगवान्को तो मेरेसे प्रेम करना ही पड़ेगा और भगवान् करेंगे ही। यदि कोई ऐसा कहे कि उसका भरोसा किसी दूसरे एक आदमीपर है—मेरेपर है तो यदि कोई मेरेपर विश्वास करे कि उसे जो कुछ चीज चाहिये, वह मैं उसे जरूर दूँगा तो मेरी यह कोशिश जरूर होगी कि उसका मेरेपरसे विश्वास न घटे और इसी खयालसे मैं उसको वह चीज दूँगा। ऐसा यदि मनुष्योंमें देखनेमें आता है तो प्रेम न होते हुए भी यदि आप भगवान्की स्तुति करेंगे तो क्या भगवान् आपसे प्रेम करनेके लिये बाध्य न होंगे। अवश्य होंगे, इसमें संदेह क्या? इतना ही क्यों, भगवान्को हर प्रकारकी सहायता देनी पड़ेगी और वह देंगे, क्योंकि उनके सिवाय और कौन सहायता दे? इतना ही नहीं, वह आपपर ज्यादा प्रेम करके आपको बतलायेंगे। उनका आपके लिये इतना प्रेम होगा कि आपसे मिलनेके सिवाय वह ठहर नहीं सकेंगे। भगवान् इतने कृपालु हैं। प्रश्न है कि भगवान् यदि ऐसे हैं तो जल्दी मिलते क्यों नहीं? विश्वास रखो कि जो कुछ विलम्ब भगवत्-मिलनमें हो रहा है, वह आपके कल्याणके लिये ही है। इसमें कोई संदेह नहीं। विलम्बसे भगवान्के मिलनेसे आपकी व्याकुलता बढ़ती जाती है। भगवान्की दयाका तो मनुष्य वास्तविक अंदाज ही नहीं कर सकता। जितनी दया उसके समझमें आती है, उससे कई गुना ज्यादे वास्तविक भगवान्की दया होती है। इतना ही नहीं; भगवान्की वास्तविक दयालुताका अंदाज आदमी कर ही नहीं सकता, इतनी उसकी दयालुता है। उसकी दयाका अनुभव करनेमें जो आनन्द है, वैसा आनन्द विषयोंमें आपको मिल ही नहीं सकता।

अन्तःकरणमें यदि प्रसन्नता न मालूम हो तो न हो, केवल सच्ची कल्पना ही कर लो कि अन्तःकरण प्रसन्नतासे भरा हुआ है तो वह संकल्प ही सत्य हो जायगा। भगवान्की दयासे वह संकल्प सत्य हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं। गीतामें कहा है—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

(६।२७)

जिसका मन अच्छी प्रकार शान्त है, जो प्रपंचसे रहित है, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है—ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभावको प्राप्त हुए योगीको अत्युत्तम आनन्द प्राप्त होता है और—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

(६।२८)

* यह प्रवचन स्वर्गाश्रम-गंगातटपर दिया गया था।

पापरहित योगी इस प्रकार सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति-रूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है। साधनमें सुख और परिणाममें परम सुखकी प्राप्तिमें शंकाके लिये स्थान नहीं। ये वचन प्रत्यक्ष भगवान् श्रीकृष्णके हैं। भगवान्‌के वचन कदापि असत्य नहीं हो सकते। प्रत्यक्ष साधन करो और उसकी सत्यताकी परीक्षा ले लो। जब इस आनन्दमें रस आने लग जायगा तो दूसरे किसी साधनके करनेकी ओर आपका खयाल भी नहीं जायगा। प्रसन्नतामें इतना मुग्ध रहना चाहिये कि किसी बातकी चिन्ता ही न हो। भगवान्‌की शरण लेनेके बाद चिन्ताका काम ही क्या? भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेपर तो चिन्ता पास भी नहीं आ सकती। प्रसन्नतामें तो जीने-मरनेकी भी परवा नहीं होती। वह तो केवल उसमें ही मुग्ध रहता है। उस समय उसे न तो जीनेसे प्रयोजन न मरनेसे। वह तो जीने-मरनेकी इच्छा ही नहीं करता। वहाँ तो किसी प्रकारकी सांसारिक इच्छाका अभाव ही रहता है। जब आनन्दमें मनुष्यकी ऐसी हालत होती है तो भगवान् स्वयं उसकी सँभाल करते हैं। इसके लिये आधार क्या है? आधार है प्रभुका प्रेम और प्रभुकी दया। इससे बढ़कर और आधार कैसा? बच्चेको किसका आधार रहता है? एक अपनी माताका! दूधके लिये बच्चा रोता है तो माता उसको तुरंत ही दूध पिलाती है। भले ही माता कभी विलम्ब कर जाय; किंतु क्या भगवान् ऐसा विलम्ब कर सकते हैं? और यदि करते हैं तो यही समझना चाहिये कि उसीमें अपना अधिक कल्याण है।

भगवान् सर्वज्ञ हैं। अपना सच्चा हित किसमें है—यह वही जानते हैं, अतएव उनपर खूब विश्वास करके किसी बातकी चिन्ता न रखे। जैसे गूँगा मिश्री खाकर आनन्दमें मुग्ध हो जाता है, वैसे ही भगवान्‌की दयाका विचार करके उसीमें निमग्न हो जाना चाहिये और किसी बातका विचार नहीं करना चाहिये। भगवान्‌के राजीमें राजी रहे। फिर भगवान् चाहे खड्डेमें क्यों न डाल दें। उसमें कोई आपत्ति नहीं। उसीमें प्रसन्न रहे। उस आनन्द-साधनको खुद खूब जोर लगाकर उसका प्रचार करे ताकि उसके फलस्वरूप सभी लोग आनन्दमें मुग्ध होते रहें। साधकको तो ऐसा मुग्ध होना चाहिये कि उस समय कोई उसे अग्निमें बैठा दे तो भी उसे मालूम न पड़े। प्रश्न हो सकता है कि ऐसी स्थितिमें विकार उत्पन्न होना सम्भव है तो इसमें कोई विकार उत्पन्न होनेका कारण नहीं। यदि विकार उत्पन्न हो तो केवल मूर्खता ही उसका कारण हो सकती है। अतएव प्रत्येक आदमीको चाहिये कि वह अपनी शक्तिके अनुसार हमेशा यह साधन करता रहे और भगवान्‌की असीम दयाका अनुभव करके मुग्ध होता रहे। इससे यह साधन जितने समय वह कर सकेगा, आनन्द होगा तथा परिणाममें आनन्दकी प्राप्ति होगी; इसमें कोई शंका नहीं।

वृक्षारोपण पुत्र होनेके समान

कूपस्तडागमुद्यानं मण्डपं च प्रपा तथा।
जलदानमन्नदानमश्वत्थारोपणं तथा॥
पुत्रश्चेति च संतानं सप्त वेदविदो विदुः।

कुआँ, तालाब, बगीचा, आराम-भवन और प्याऊका निर्माण, जल और अन्नदान, पीपल-वृक्षका लगाना एवं पुत्र-प्राप्ति ये सात प्रकारकी संतान कहलाती हैं। [**स्कन्दपुराण**]

दशकूपसमा वापी दशवापीसमो ह्रदः।
दशह्रदसमः पुत्रो दशपुत्रसमो द्रुमः॥

दस कूप-निर्माण करवानेका पुण्य एक वापीके बनवानेसे प्राप्त होता है तथा दस बावलियाँ बनवानेका पुण्य एक तालाबके बनवानेसे और एक पुत्रका जन्म दस तालाबोंके तुल्य तथा एक वृक्ष दस पुत्रोंके तुल्य है। [**मत्स्यपुराण १५३।१२**]

जीव और ईश्वर

(स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती, सिहोरवाले)

कर्त्ता भोक्ता देह मैं यही जीवका रूप।
जब आपै कर्त्ता नहीं केवल शिव स्वरूप॥

वस्तुतः समस्त कर्मोंका कर्त्ता और उन शुभाशुभ कर्मोंके फलरूप सुख-दुःखका भोक्ता न होनेपर भी आत्मा मोहवश होकर 'मैं देह हूँ'—यह मानकर स्वयं कर्ता-भोक्ता बन जाता है और इसी कारण वह 'जीव' कहलाता है। यदि आत्मा इस भ्रमरूप देहाध्यासको छोड़ दे तो शिव-स्वरूप, ईश्वर-स्वरूप उसका स्वभाव ही है।

प्रश्न—कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जीव ईश्वरका अंश होनेके कारण ईश्वररूप ही है। दूसरे लोग कहते हैं कि जीव और ईश्वर दोनों एक हो नहीं सकते। इसका कारण बतलाते हैं कि जीव अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्वज्ञ है। जीव अल्पशक्तिमान् है और ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। जीव अणुरूप है और ईश्वर सर्वव्यापक है। सारांश यह है कि जीव एक बिन्दुरूप है और ईश्वर सिन्धुरूप है। हमको तो यह पिछली बात सत्य जान पड़ती है और समझमें भी आता है कि बिन्दुसे सिन्धुरूप कैसे हो सकता है?

उत्तर—यह अध्यात्मविषय ऐसा है कि इसमें अधिकारकी खास जरूरत पड़ती है। अधिकारके बिना इस विषयका ज्ञान हो ही नहीं सकता। इस विषयमें सारग्राही और सरल बुद्धिवालोंका ही अधिकार है। जिनको केवल वादविवाद या तर्क ही करना है, उनका यहाँ अधिकार नहीं है। सारग्राही होना, अर्थात् बातको ध्यानपूर्वक सुनकर जो सत्य जान पड़े, उसे ग्रहण कर लेना; और जो न समझमें आये, उसके लिये प्रश्न करके विवेकसे उसे समझना। और सरलबुद्धि रखना अर्थात् किसी बातके लिये पहलेसे हठ न बाँध लेना, यानी 'अपने जो मानते या जानते हैं, वही सत्य है और दूसरा सत्य हो तो भी वह सत्य नहीं है' ऐसा हठाग्रह या दुराग्रह नहीं होना चाहिये। जो लोग केवल तर्क करनेके लिये ही चर्चा करते हैं, उनके लिये इस विषयमें स्थान ही नहीं है।

अब अपने मूल विषयपर आइये। जो जीव-ईश्वरमें भेद मानते हैं, वे भी मुक्ति प्राप्त करते हैं और जीव-ईश्वरमें अभेद मानते हैं, उन्हें भी मुक्ति मिलती है। ऐसा हमारे शास्त्र कहते हैं। अतएव जीव और ईश्वरमें अभेद कहना ही सत्य और भेद कहना असत्य है—ऐसा कहना भी दुराग्रह ही कहलायगा। मनुष्य-मनुष्यके संस्कार-भेदसे दोनों बातें सही हैं और इसलिये साध्य एक होनेपर भी साधन पृथक्-पृथक् होते हैं। हम तो यह मानते हैं कि जीव और ईश्वर स्वरूपसे एक ही हैं और इसी विषयको समझाते हैं। आपके गले यह बात उतरे तो मानिये, अन्यथा न मानिये। हमारा कोई आग्रह नहीं है।

अब देखिये, बिन्दु और सिन्धुकी बात पहले समझ लें। बिन्दुके सिन्धु बननेकी बात जो आप कहते हैं, सो वह तो असम्भव ही कहलायगी। बिन्दु सिन्धु बनता नहीं परंतु बिन्दु तो सिन्धुरूप ही है, इसका सिन्धु बननापन ही नहीं है, यह बात एक दृष्टान्तसे समझें। एक सिन्धु है, उससे एक आचमनीभर जल हम ले लेते हैं, फिर एक गड्ढाभर जल लेते हैं और पश्चात् उसी सिन्धुके जलसे एक तालाब भर लेते हैं। अब आचमनीमें तो बिन्दुमात्र जल है, गड्ढेमें उसकी अपेक्षा अधिक जल है और तालाबमें तो अतिशय अधिक जल है। और उधर सिन्धु तो सिन्धु ही है, उसकी इनमेंसे किसीके साथ समानता नहीं की जा सकती। अब एक राईका छिलका लेकर आचमनीमें डालिये तो वह इसमें उसी प्रकार तैरने लगेगा, जैसे एक बड़ा-सा जहाज समुद्रमें तैरता है। फिर एक चनेका छिलका लेकर गड्ढेमें डालिये तो वह भी उसमें तैरने लगेगा। तत्पश्चात् एक छोटी-सी नाव तालाबमें डालिये तो वह भी वहाँ तैरेगी और सिन्धुमें तो बड़े-बड़े अनेकों अग्निपोत जहाज एक साथ तैरते हैं।

अब सरल बुद्धिसे विचार कीजिये। आचमनीमें, गड्ढेमें, तालाबमें और सिन्धुमें एक ही पानी है। चारों स्थानोंमें छोटे-बड़े पदार्थ पानीके धरातलपर ही तैरते भी हैं। तथापि आचमनीमें, गड्ढेमें या तालाबमें बड़े जहाज नहीं तैर सकते। यह भेद क्योंकर हुआ? जल एक ही है, उसमें पदार्थोंको तैरते रखनेकी शक्ति भी एक ही है, तथापि व्यवहारमें जो भेद दीखता है, उसका कारण यह है कि जल एक होनेपर भी उसके रहनेके आधार

पृथक्-पृथक् हैं। छोटे आधारमें थोड़ा जल है, इसलिये वहाँ कार्य भी थोड़ा होता है और मध्यम आधारमें मध्यम परिमाणमें पानी है, इसलिये वहाँ कार्य भी उसी परिमाणमें होता दीखता है तथा सबसे बड़े आधारमें बहुत ही अधिक परिमाणमें जल है। इससे कार्य भी वहाँ अधिक बड़ा हो सकता है। अतएव बिन्दु है तो सिन्धुरूप ही, क्योंकि दोनों एक जलरूप हैं और उस जलमें शक्ति भी एक ही है। परंतु बिन्दुके रहनेका आधार एक आचमनी ही है और सिन्धुके जलके रहनेका आधार बहुत ही बड़ा है।

इसी प्रकार ईश्वर है तो एक और सर्वव्यापक, परंतु जिस-जिस आधारमें वह प्रकट होता है, उस-उस आधारके आकार और स्वभाववाला दीखता है। अल्प आधारमें अल्पज्ञ और अल्प शक्तिवाला दीखता है तथा बड़े आधारमें सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् दीखता है। अर्थात् आधारके भेदके कारण जीव और ईश्वर पृथक्-पृथक्-से केवल दीख पड़ते हैं, तथापि स्वरूपसे तो दोनों एक ही हैं।

इसका समर्थन करनेवाला अध्यात्मरामायणका निम्नलिखित श्लोक है—

स्थूलं सूक्ष्मं कारणाख्यमुपाधित्रितयं चितेः।
एभिर्विशिष्टो जीवः स्याद् विमुक्तः परमेश्वरः॥

स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीन शरीर आत्माकी उपाधि हैं। आत्मा जब शरीरके साथ एकात्मताका अनुभव करता है, शरीरको ही अपना स्वरूप मानता है अथवा वह स्वयं शरीर ही है, ऐसा निश्चय रखता है, तब वह जीव कहलाता है। परंतु जब सद्गुरुके उपदेशके द्वारा अपनेको शरीरसे विलक्षण समझता है, स्वयं शरीरसे भिन्न है—ऐसा जान लेता है, तब परमेश्वर तो वह है ही। उसको परमेश्वर बनना नहीं पड़ता। स्वरूपकी जो विस्मृति हो गयी थी, उसकी निवृत्ति हो जानेपर अपने मूल-स्वरूपकी स्मृति हो जाती है, इतनी ही बात है।

अन्यत्र भी कहा है—

'देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः।'

इस शरीरको देवताका मन्दिर जानो और इसमें रहनेवाला चैतन्य जिसको तुम जीव कहते हो, वह शिवरूप ही है—ईश्वर ही है।

श्रीयोगवासिष्ठ, निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्द्धमें कहा है कि (१) जैसे सोना मैलसे ताँबापनको प्राप्त होता है और मैल पूरा धुल जानेपर फिर सोनेपनको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म-चैतन्य देहादिकी भावनासे जीवपनको प्राप्त होता है और वह भावना दूर होते ही पुनः ब्रह्मचैतन्यपनको प्राप्त हो जाता है। (सर्ग ३१)

(२) यदि जीव प्रमाणोंसे अपने स्वरूपको जान लेता है तो वह साक्षीरूप हो रहता है और नहीं जानता है तो वस्तुतः ब्रह्मरूप होनेपर भी अज्ञानसे बहुत लंबे स्वप्नकी भाँति विभ्रमरूप भयको देखता है।

जीवके भीतर चैतन्य-कलाके सिवा दूसरा कुछ है ही नहीं। परंतु उस चैतन्य-कलाको तो जीव अपनेसे पृथक् समझता है, वह वृथा शोक किया करता है। (सर्ग ५१) तथा—

पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति।

(श्वेताश्वतर उपनिषद्)

अब यही बात एक दूसरे दृष्टान्तसे समझें। जहाँ अग्नि है, वहाँ एक ही है, परंतु छोटे-बड़े आधारको लेकर छोटी-बड़ी दीखती है। एक गृहस्थके घरमें गृहस्वामी बाहर चौपालमें बैठा बातें कर रहा था। इतनेहीमें उसका सात-आठ वर्षका बालक आया और बोला—'बाबा, दूध आ गया।' पिताने उत्तर दिया—'अच्छा, चूल्हेके ऊपर रखवाकर नीचेसे आँच दो, तबतक मैं आता हूँ।' दो मन दूधका टोप चूल्हेके ऊपर था। लड़केने थोड़ी साँठी* लेकर नीचे आँच दे दी। पिता आधा घंटेके बाद आये, तबतक वह लड़का आँच देता ही जा रहा था। पिताने समझा था कि दूध उबल चुका होगा। परंतु अभी तो टोपका पेंदा भी गरम नहीं हुआ था। इसलिये पिताने बड़ी-बड़ी लकड़ियाँ जलायीं और जब पर्याप्त आँच हो गयी, तब दूध गरम हुआ और फिर उसका दूधपाक भी बना। अब, यहाँ यह नहीं कह सकते कि साँठीकी आग आग नहीं थी, लकड़ीकी आग ही आग थी। साँठीकी आगके प्रकट होनेका आधार छोटा

---

* कपास चुन लेनेके बाद जो सूखा डंठल रह जाता है, उसे साँठी कहते हैं। उससे व्यापारियोंके यहाँ लिखनेकी कलम बनायी जाती थी।

था, इसलिये उसके द्वारा काम भी छोटा ही हो सकता था। एक प्याला दूध गरम करना होता तो हो जाता। परंतु दो मन दूधमें उससे उबाल नहीं आ सकता था। उसके लिये तो अधिक तेज आँच चाहिये और इस कारण लकड़ी भी धायँ-धायँ जलनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि एक चिनगारी भी स्वरूपसे आग ही है, परंतु वह झलक दिखाकर ही ठंडी पड़ जाती है। साँठीकी आँच भी अग्नि ही है, परंतु वह अपने परिमाणमें काम कर सकती है और पाँच-सात मन लकड़ी जलायी जाय तो वह भी अग्नि ही होगी तथा वह अपने परिमाणमें काम करेगी। अग्नि जहाँ है, वहाँ एक ही है। परंतु प्रकट होती है छोटे-बड़े आधारको लेकर और छोटे-बड़े परिमाणमें ही काम कर सकती है। जो अग्नि चिनगारीमें है, वही अग्नि साँठीके तापमें है, वही अग्नि पाँच-सात मन लकड़ीके तापमें है और वही अग्नि दावानलके रूपमें सारे पर्वतको जला डालती है तथा वही अग्नि सूर्यरूप होकर अनन्त ब्रह्माण्डोंको उष्णता प्रदान करती है। इनमें किसी भी अग्निमें भेद नहीं है, परंतु छोटे-बड़े आधारके भेदको लेकर अग्नि छोटी-बड़ी दीख पड़ती है।

इसी प्रकार ईश्वर एक ही, अखण्ड है तथा सर्वव्यापक है, परंतु प्रकट होनेका आधार छोटा-बड़ा होनेके कारण छोटा-बड़ा दीखता है। चींटीके शरीरमें वह कम नहीं है और हाथीके शरीरमें अधिक नहीं है। हिमालयमें कोई महत् परिमाणमें नहीं है और परमाणुमें अल्प परिमाणमें नहीं है। छोटे-बड़े परिमाणमें दीख पड़नेका कारण है केवल छोटे-बड़े आधारका होना। वस्तुतः जहाँ ईश्वर प्रकट होता है, वहाँ पूर्णरूपमें ही प्रकट होता है। तब जीव और ईश्वरके बीच भेद या अभेदका निश्चय आप अपने विचारसे कर लें। इसमें मेरा कोई आग्रह नहीं है।

इसका प्रमाण देखना हो तो श्रुति कहती है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

किसी घरमें जब आग लगती है तो वह जिस-जिस वस्तुको जलाती है, उस-उस वस्तुके आकारकी बनती हुई दीखती है। उसी प्रकार ईश्वर है तो एक ही, परंतु जिस-जिस आधारमें प्रकट होता है, उसके अनुरूप दिखलायी देता है। ईश्वर सब भूतोंका अन्तरात्मा है, तब फिर जीव किसी प्रकार उससे अलग हो सकता है?

एक संतने भी गाया है—

जीव-ईशका भेद तज, सबमें बरते आप।
मुझसे ईश्वर दूसरा, यही द्वैत संताप॥
कहाँ ईशता जीवता, पूरन चिद्घन भान।
छोटी-छोटी सब लहर, जल है एक समान॥

जीव और ईश्वरमें भेद है, इसके प्रमाण भी शास्त्रोंमें मिलते हैं तथा अभेद है—इसके प्रणाम भी हैं। इसलिये भेद भी सच्चा है और अभेद भी सच्चा है। अतएव कल्याण चाहनेवाले पुरुष अपनी मुक्तिकी सिद्धिके लिये जीव-ईश्वरके भेद या अभेदकी चर्चामें न उतरकर साधनमें प्रवृत्त रहते हैं। वस्तुतः अपना हित चाहनेवाले मुमुक्षुको जीव और ईश्वरकी एकता या भिन्नताके वाद-विवादमें नहीं पड़ना चाहिये। परंतु इन दोनोंके अधिष्ठानरूप ब्रह्मतत्त्वका ही विचार करके उसका साक्षात्कार करनेका यत्न करना चाहिये। जीव-ईश्वर-सम्बन्धी वाद-विवाद करनेमें मुक्ति नहीं है, बल्कि ब्रह्मज्ञानके सम्पादनमें है, यह बात भूलनी नहीं चाहिये।

इन दोनों बातोंका मानो समन्वय करते हुए श्रीवसिष्ठ ऋषि कहते हैं—

अस्मिन् विकारवलिते नियतेर्विलासे
संसारनाम्नि चिरनाटकनाट्यसारे।
साक्षी सदोदितवपुः परमेश्वरोऽय-
मेकः स्थितो न च तथा न च तेन भिन्नः॥

अनेकों विकारोंसे भरे हुए, नियति-शक्तिके विलासवाले, विकारोंसे पूर्ण इस संसार नामके अनादि महानाटकमें सर्वदा प्रकाशमान प्रत्यगात्मारूप राजा यह परमेश्वर ही द्रष्टा है। वस्तुतः वह राजा नियतिसे या संसारसे (नटोंसे और नाटकसे) भिन्न नहीं है।

नरहरिः कुरुतां जगतां शिवम्।

सांसारिक असफलता भी भगवान्‌की कृपा

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

भगवान्‌की कृपाका कोई एक रूप नहीं है। वह न मालूम कब किस रूपमें प्रकट होती है। पर जागतिक असफलता उसका एक रूप है। हम संसारके भोगोंकी, विषयोंकी, अनुकूल विषयोंकी प्राप्तिमें जो भगवान्‌की कृपा मानते हैं, यह भगवान्‌की कृपाका एकांगी दर्शन है और एक प्रकारसे असत्-दर्शन है। भगवान्‌की कृपा निरन्तर है, सबपर है, सब समय है, बल्कि जहाँ भगवान् हमारे अनुकूल विषय-भोगोंका अपहरण करते हैं, विनाश करते हैं, वहाँ भगवान्‌की कृपा विशेषरूपसे प्रस्फुटित होती है। जब मनुष्य भगवान्‌को भूल जाता है, उनकी अवहेलना करता है; जब वह अध्यात्मको, परमार्थको सर्वथा भूलकर जागतिक, लौकिक, स्वार्थकी सिद्धिमें लग जाता है, तब भगवान् कृपा करते हैं। जो पापके प्रवाहमें बह रहा है, भगवान् उसको उस प्रवाहसे बचानेके लिये उसके ऐश्वर्यको, उसकी सफलताको बलात्कारसे अपहरण करते हैं। जो वस्तु उसे अभिलषित है, उसे प्राप्त नहीं होने देते और जो वस्तु उसे प्राप्त है, जिसने उसे मोहित कर रखा है, उसे छीन लेते हैं, नष्ट कर देते हैं—

'यमहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।'

यह मान-भंग, यह ऐश्वर्यनाश आदि भगवान्‌की बड़ी कृपासे होता है। यदि कोई धनका होकर रह रहा है, तो भगवान् चाहते हैं कि वह धनका न होकर हमारा होकर रहे। उसका धन-ऐश्वर्य आदि सब कुछ ले लेते हैं। भगवान् तो चाहते हैं उसे अपनाना। वे उसे अपनी गोदमें लेना चाहते हैं। पर जबतक जगत् उसे अपनाये है, तबतक वह ऐसा मोहमें रहता है कि मानो सारा जगत् ही हमारा है। तबतक उसे भ्रम रहता है कि मानो सारा जगत् ही हमसे प्यार करता है। वह जगत्‌में चारों ओर आशा लगाये रहता है। उसमें फूलकर वह भगवान्‌को भूल जाता है। उसमें जगत्‌का प्रेम, जगत्‌की ममता, जगत्‌का बन्धन प्रगाढ़ और विस्तृत होता जाता है। भगवान् उसे दिखाते हैं कि तुम्हारे साथ प्रेम करनेवाला, तुम्हें अपना माननेवाला, तुम्हें आश्रय देनेवाला मेरे अतिरिक्त कोई स्थिति, कोई अवस्था, कोई प्राणी और कोई सम्बन्ध है ही नहीं। ये सब धोखेकी चीजें हैं। वह धोखेकी चीज मान ले, इसके लिये भगवान् ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं। जैसे हम आपसे प्रेम करते हैं, आपके लिये प्राण देनेकी बात करते हैं, पर कहीं आपपर कोई लांछन लग जाय, आपका कोई पाप प्रकट हो जाय, जगत् आपसे घृणा करने लगे, आपके पास बैठनेमें लोक-लज्जाका अनुभव होने लगे, उस समय हम आपके पास नहीं बैठ सकेंगे। उस समय बड़ा सुन्दर तर्क देते हुए हम कह देंगे—'अन्दरसे हमलोगोंका प्रेम तो बना ही है, पर बाहर प्रकट करके अपयश लेनेसे क्या लाभ?' कल जो उसकी बड़ाईमें, उसके यशमें, उसके सुखमें हर समय हिस्सा ले रहे थे; आज वह बुरा आदमी माना गया है, इसलिये उसे अपना स्वीकार नहीं करते। उनका प्रेम, ममत्व, अपनत्व कहाँ चला गया? मनुष्य पाप करता है, पर क्या वह अपनेसे घृणा करता है। श्रीनारदजीने प्रेमका स्वरूप बताया—'**गुणरहितम्, कामनारहितम्**'। प्रेम गुणरहित और कामनारहित होता है। प्रेम गुण और वस्तुकी अपेक्षा नहीं करता।

सच बात तो यह है कि भोगासक्त संसारवालोंका प्रेम है ही नहीं, सच्चे प्रेमी तो प्रभु हैं, जो गुण नहीं देखते और कामना तो उनके मनमें है ही नहीं। भगवान्‌का प्रेम ही असली प्रेम है। अतएव भगवान्‌को छोड़कर भोगोंमें जो मन लगता है, सो बड़े दुर्भाग्यकी बात है। मजेकी बात तो यह है कि जगत्‌में जिन लोगोंके पास जगत्‌की कुछ वस्तुएँ हैं, वे अपनेको भाग्यवान् मानते हैं और मूर्खतावश और लोग भी उन्हें 'भाग्यवान्' कहते हैं। किंतु एक फकीर जिसके पास जगत्‌की कोई वस्तु नहीं है और जिनकी उसे कामना भी नहीं है तथा जो अपनी स्थितिमें भगवान्‌का स्मरण करते हुए सर्वथा निश्चिन्त और मस्त है, उसे लोग गरीब या अभागा कहते हैं ओर कह देते हैं—'बेचारेको सुख कहाँ?' पर जो पदार्थ हमें भगवान्‌से दूर कर दे और जो नरकानलमें दग्ध करनेमें सहायक हो, उस पदार्थजनित भाग्यशीलताके लिये क्या

कहा जाय? गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

श्रीशिवजी कहते हैं—'वे अभागे हैं, भाग्य फूटा है उनका, जो भगवान्‌को छोड़कर विषयोंसे प्रेम करते हैं।' सौभाग्यवान् कौन, जो सबको छोड़कर भगवान्‌की सेवामें लग जाता है। भरतजीने श्रीलक्ष्मणके भाग्यकी सराहना करते हुए कहा था—

अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥

लक्ष्मणके समान कौन बड़भागी है, जिसका श्रीरामके चरणोंमें अनुराग है। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी॥

'रमाके वैभवको जो रामानुरागी जन वमनके समान त्याग देते हैं, वे ही बड़भागी हैं।' भोगरूपसे तो लक्ष्मी अलक्ष्मीके रूपमें—दुर्भाग्यके रूपमें ही रहती हैं। उस दुर्भाग्यके रूपको दूर करनेके लिये भगवान् कृपा करते हैं और कृपा करके, हमने जिसे सौभाग्य मान रखा हैं, उसको हर लेते हैं। भगवान्‌के प्रेमको हरनेवाली सम्पूर्ण चीजोंको भगवान् हर लेते हैं, दूर कर देते हैं।

संकल्पका सुन्दरतम स्वरूप

(पं० श्रीसत्यपालजी शर्मा, वेदशिरोमणि, एम्० ए०)

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि
रात्रिं जहात्युषसश्च केतून्।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता
कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि॥

(अथर्व० १०। १। ३२)

पाप और पुण्य—ये दोनों शब्द मेरे कानोंके लिये चिरपरिचित हैं। अनेक बार कइयोंके मुखसे इन्हें सुन चुका हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि मुझे पाप नहीं करना चाहिये और सदा पुण्य ही करते रहना चाहिये। पापसे नरक और पुण्यसे स्वर्ग मिलता है। पर पापकी उत्पत्तिका कारण क्या है? उसका मूल उद्‌गम क्या है? उससे मैं कैसे छूट सकता हूँ? इतना मैं जानता हूँ कि एक बार पाप कर लेनेपर—केवल मनमें आनेपर ही—मैं दण्डनीय बन जाता हूँ और फिर उस दण्डसे मुझे कोई नहीं बचा सकता, चाहे वह शास्त्रज्ञ पण्डित हो या पुजारी या पादरी। और मैं यह भी जानता हूँ कि पाप क्षमा करवानेके बहाने ये लोग जो कुछ करते हैं, वह स्वयं पाप है, क्योंकि वे तो भोले व्यक्तियोंको लोभ देकर उनसे अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं और अपनी उदरपूर्तिके लिये दूसरोंको धोखा देते हैं। परमात्मा दयालु तो है, पर उसकी दयालुताका यह अर्थ नहीं है कि वह पापोंको क्षमा कर देता है। अपने बच्चेको कुमार्गसे न हटानेवाली, और उसे दण्ड देकर सीधे रास्तेपर न लाकर लाड़-प्यार ही करते रहनेवाली माँ वर्तमानमें और प्रत्यक्ष भले ही दयालु प्रतीत होती हो, पर वास्तवमें वह उसकी दया नहीं है; क्योंकि इससे भविष्यमें उस बच्चेका सारा जीवन ही खराब हो जाता है। परमात्मा ऐसा अबोध और अज्ञानी दयालु नहीं है। वह उस माँकी तरह है, जो खराब काम करनेपर अपने बच्चेको दण्डित भी करती चली जाती है और मन-ही-मन रोती भी चली जाती है। तो फिर मैं इस पापपुंजसे कैसे छूटूँ? क्या कभी छूट भी सकता हूँ?

वेदमाता कहती है—तुम छूट तो सकते हो, पर इसके लिये तुम्हें कुछ बनना पड़ेगा, कुछ करना पड़ेगा। देखो मैं तुम्हें एक उदाहरण देती हूँ। तुमने सूर्यको देखा है? सूर्य निकलनेसे पूर्व कितना अन्धकार होता है, ऐसा अँधेरा कि हाथको हाथ न सूझे। यदि प्रकाशका कोई साधन न हो तो अच्छे और बुरे सब एक-सी शक्लके दिखायी देते हैं, विवेचना-शक्ति समाप्त हो जाती है। पर, सूर्य इस अन्धकारसे मुक्त हो जाता है, तेजस्वी बनकर चमकने लगता है। यही 'अन्धकार' या 'तमस्' है पापोंका उद्‌गम, कारण। तमस् क्या है?—बताओ तो सही अन्धकार क्या है? अन्धकार है प्रकाशका अभाव। जहाँ सूर्यका प्रकाश नहीं होता है, वहाँ तमस् छा जाता है। जैसे ब्रह्माण्डमें अन्धकार सूर्य-प्रकाशका अभावरूप है, वैसे ही मनुष्यमें एक प्रकारका जो अन्धकार छाया हुआ है,

वह भी सूर्यके अभावसे ही है। 'सूर्य' के प्रकाशका अभाव ही 'तमस्' है। 'सूर्य' का अर्थ है वह सत्ता, जिससे मनुष्यके अभाव दूर हों। परमात्माकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना, उस परम शक्तिमें अटल विश्वास और श्रद्धा जबतक मनमें रहती है, समझो सूर्यका प्रकाश होता रहता है और जब परमात्माके अस्तित्वके ही बारेमें सन्देह पैदा हो जाय, उसमें कोई श्रद्धा, भक्ति या विश्वास न हो तो उस मनमें पूर्ण 'तमस्' छा जाता है। तब परमात्माके अस्तित्वका अभाव ही तो 'तमस्' हुआ न? जहाँ उसका अस्तित्व नहीं है, वहाँ और भी बहुत-से तत्त्वोंका अभाव स्वयमेव हो जाता है। इस तमस्के प्रावरणमें अच्छा-बुरा सभी एक-सा दिखायी देता है और यही अभाव या तमस् है, जो पापोंको जन्म देता है। सभी मनोवैज्ञानिक इस बातको जानते और कहते हैं कि जिस मनुष्यमें शक्ति जितनी ही कम होगी, वह उतना ही क्रोधी होगा। तो क्रोध है परिणाम शक्तिके अभावका। जिसमें वीर्य-शक्ति जितनी ही कम होगी, उसमें कामकी उतनी ही प्रबलता होगी—काम है परिणाम वीर्यशक्तिके अभावका। सन्तोष जिसमें जितना ही कम होगा, उसमें लोभ उतना ही अधिक होगा—तो लोभ हुआ परिणाम सन्तोषके अभावका। इस प्रकार ज्ञानका अभाव, शान्तिका अभाव, वीर्य-शक्तिका अभाव, सन्तोषका अभाव, शुद्ध शक्तिका अभाव, स्नेहका अभाव, दयाका अभाव, रसका अभाव, जीवन और स्फूर्तिका अभाव, धैर्यका अभाव, स्मृतिका अभाव आदि जितने भी अभाव हैं—वे ही पापके बीज हैं। तो—

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि।

जिस प्रकार सूर्य अन्धकार—अभावसे ऊपर उठ जाता है—मुक्त हो जाता है, हमें भी इन सभी अभावोंसे ऊपर उठना होगा।

पापका दूसरा उद्‌गम है—रात्रि। रात्रिमें हम बड़े आनन्दसे सोते हैं। सारी इन्द्रियाँ सुषुप्तिके आनन्दमें इतनी मग्न हो जाती हैं कि उनको बाह्य संसारका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता और जब हम सोकर उठते हैं तो हमारा मन कहता है—और हम भी कहते हैं दूसरोंसे—कि आज तो बड़ी अच्छी नींद आयी, बड़ा आनन्द आया। पर जरा इस आनन्दका विश्लेषण तो कीजिये। 'सुषुप्ति' और 'समाधि'के आनन्दका स्वरूप एक-सा होनेपर भी जमीन-आसमानका अन्तर है। सुषुप्ति समाधि नहीं हो सकती और समाधि सुषुप्ति नहीं हो सकती। क्या अन्तर है दोनोंमें? सुषुप्ति है तमोजनित और समाधि है सत्त्वजनित। तमस्में घोर अज्ञान है, सत्त्वमें है पूर्ण बोध—पूर्ण जागरण। तमस्में है अचेतनता—अबोधता-निष्क्रियता। सत्त्वमें है चेतनता, बोध और सक्रियता। सुषुप्तिका तमोजनित आनन्द अचेतनता, अबोधता और निष्क्रियताका आनन्द है। समाधिका सत्त्वजनित आनन्द चेतनता, पूर्ण बोध, सक्रियता और जागरूकताका आनन्द है। सुषुप्तिका आनन्द अभावात्मक है, समाधिका आनन्द भावात्मक है। रात्रिमें सुषुप्तिका आनन्द ही अनुभव होता है, समाधिका आनन्द नहीं। दूसरे शब्दोंमें दार्शनिक परिभाषाके अनुसार वे सभी तामसिक चीजें रात्रि हैं, जो मनुष्यकी चेतनता, बोध और सक्रियताको पूर्ण निश्चेष्ट बनाकर उसे आनन्द प्रदान करती हैं। कामशक्तिका आनन्द, मद्यपानका आनन्द, जुआ खेलनेका आनन्द, आलस्य और प्रमादजनित भी आनन्द हैं। इन आनन्दोंको देनेवाली सभी चीजें 'रात्रि' हैं। यह 'रात्रि' भी पापका उद्‌गम है। रात्रिने उस सूर्यको आनन्दमें मग्न रहकर मौज लेनेका निमन्त्रण दिया, पर सूर्यने उस स्नेह-भरे निशा-निमन्त्रणको भी अस्वीकार कर दिया।

रात्रिं जहाति।

उसने 'रात्रि' को भी ऐसे ही पीछे छोड़ दिया जैसे महर्षिने अपने आनन्दपूर्ण घरको, बुद्धने यशोधराको, जिस प्रकार कि तेजोमय व्यक्ति, जिसका लक्ष्य ही 'अपवर्ग' है, 'अत्यन्त पुरुषार्थ' के देवयान मार्गपर बढ़नेके लिये गृहस्थाश्रमको छोड़कर संन्यास ग्रहणकर लेता है। पापके एक और पाशसे उसने अपनेको मुक्त कर लिया।

पापका तीसरा उद्‌गम है—'आकर्षण'। आकर्षण 'मृगमरीचिका' है और मनुष्यकी 'इच्छा' उसमें तृप्ति प्राप्त करनेकी भ्रान्तिमें पड़ा हुआ 'मृग' है। रात्रिकी समाप्तिपर उषा आयी। उसने अपने सौन्दर्यकी झलक दिखाकर सूर्यको अपने मोहमें बाँध लेनेका प्रयत्न किया। ऐसे ही दुनियाकी चमक भी मनुष्यको अपनी ओर आकर्षित करके उसे सत्यसे परे रखती है। उसे उसके वास्तविक मार्गसे विचलित कर देती है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

सत्यके मुँहपर चढ़ा हुआ यह आवरण—हिरण्मय है—चमचमा रहा है। यही आकर्षण और ऊपरी आडम्बरका मोह न जाने मनुष्यसे कितने पापकर्म करवाता है। इन्हीं आकर्षणोंको 'एषणा' के नामसे पुकारा जाता है। संन्यासी बनते समय मनुष्य इन्हीं सब एषणाओंको छोड़नेकी प्रतिज्ञा करता है। वह संसारके इन सभी आकर्षणोंसे उसी तरह ऊपर आ जाता है, जैसे कि सूर्य—

उषसश्च केतून्।

उषाकी चमक और आसमानके सौन्दर्यके मोहमें न पड़कर उससे भी ऊपर उठ जाता है और फिर आकाशमें ऐसा सूर्य चमकता है कि कोई उसकी ओर दृष्टि भी नहीं उठा सकता।

इस प्रकार सूर्यके समान ही तुम्हें भी अभावोंसे, अचेतन अनित्य आनन्दोंसे, आकर्षणोंसे ऊपर उठना होगा। तब तुम पापोंसे सर्वथा बचे रहोगे।

पर ऐसा करनेके लिये मानसिक शक्ति चाहिये, सामर्थ्य चाहिये। आत्मा और मनमें जबतक इस तरहकी शक्ति और सामर्थ्य नहीं आयगी, ऐसा नहीं कर सकोगे। यह सामर्थ्य आती है 'कल्प' से—संस्कारों और यज्ञोंसे। 'कल्प' का ही एक और रूप है 'संकल्प'। 'कल्प' क्रियात्मक है और क्रियाजन्य भाव आत्मा और मनमें सामर्थ्य पैदा करते हैं। 'संकल्प' शक्ति है। यह मनकी शक्ति है, भावात्मक। यह संकल्प-साधन जिसके पास है, वह मनसा कभी भी दुर्बल नहीं हो सकता। तो तुम भी संकल्प करो और प्रतिदिन अपने मनमें इस बातकी घोषणा किया करो कि—

जहामि।

मैं भी छोड़ रहा हूँ। छोड़ूँगा—नहीं, भविष्यत्‌की बातें न करो, 'कल' पता नहीं आये, न आये। इसलिये वर्तमानकी भाषामें घोषणा करो। 'संकल्प' के साथ तुम्हें यह भी ध्यान होना चाहिये कि तुम छोड़ने क्या जा रहे हो? कहीं ऐसा न हो कि घरसे कूड़ा-कचरा निकालते हुए बहुमूल्य पदार्थोंको भी कूड़ा समझकर निकाल दो।

एवाहं सर्वं दुर्भूतम् (जहामि)।

मैं सारी दुर्भावनाएँ छोड़े दे रहा हूँ। मैं व्यक्तिसे घृणा क्यों करूँ? व्यक्तिसे मुझे द्वेष क्यों हो? क्यों मैं किसीके प्रति कोई दुराशय या दुर्भावना रखूँ। इसमें उस व्यक्तिका तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, मन तो मेरा खराब होगा न? नहीं—मैं अब यह सब छोड़ दे रहा हूँ— 'भावना मिट जाय मनसे पाप-अत्याचारकी।'

कर्त्रं (जहामि)।

ऐसी सभी चीजोंको छोड़ दे रहा हूँ, जो मेरा सम्बन्ध मानवसे, पशु-पक्षीसे, परमशक्तिसे काट देनेवाली हैं। मैं ऐसी सभी चीजोंको छोड़ रहा हूँ, जो मुझे पापपंकमें लपेट देनेवाली हैं, मुझे अन्धा बना देनेवाली हैं। ऐसी संगतियों, ऐसी संस्थाओं, ऐसे समाज-समुदायों, ऐसी परिस्थितियों और बातोंसे दूर और उदासीन रह रहा हूँ।

कृत्याकृता कृतं (जहामि)।

ऐसे सभी कर्म जो मेरी दूषित भावनाओं या दूषित मन और इन्द्रियोंसे उत्पन्न हों, छोड़ दे रहा हूँ।

हस्तीव रजो दुरितं जहामि।

जिस प्रकार हाथी अपने शरीरपर धूलका एक कण नहीं बैठने देता, उसी प्रकार मैं भी अपने मन, बुद्धि, चित्त या इन्द्रियोंमें 'दुर्+इतं' दुष्ट तत्त्वों, भावनाओं या वासनाओंका एक भी कण किसी भी क्षण बैठने नहीं देता हूँ। हाथी और भैंसमें यही तो फर्क है। भैंस कीचड़, धूल और दलदलसे प्रेम करती है। उसको उसीमें आनन्द आता है जैसे कि सामान्य मनुष्योंको वासनाओं, अन्य अभावों या आकर्षणोंमें आनन्द आता है। मैं 'भैंस क्यों बनूँ? हाथी क्यों न बनूँ?'

तो यह है संकल्पका सुन्दरतम स्वरूप।* यही संकल्प मुझे पापोंसे दूर रखेगा—यही संकल्प मुझे पाप-पंकमें फँसने नहीं देगा—यही संकल्प मुझमें इतनी शक्ति और सामर्थ्य पैदा कर देगा कि मैं सूर्य बनूँ—सूर्यके समान ऊपर-ही-ऊपर चढ़ता चला जाऊँ। मैं कैसा अबोध था। तमस्—अभाव—शून्य अभीतक मुझे दबाये हुए था। 'शून्य' ने 'सत्ता' को कैदमें कर रखा था। नहीं, अब मैं 'शून्य' की कैदसे मुक्त हो जाऊँगा।

---

* कर्मानुष्ठानके पूर्व संकल्प लेनेकी शास्त्रीय अनिवार्यता भी इसी ओर संकेत करती है कि संकल्पबलसे आ गयी कठिनाइयोंपर विजय पाकर कर्म सम्पन्न हो सके।—सम्पादक

साधकोंके प्रति—

स्वार्थ-अभिमानरहित सेवा

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

एक ही शरीरके अनेक अवयव हैं। जैसे—हाथ हैं, पैर हैं, इन्द्रियाँ हैं, प्राण हैं, मन है, मस्तिष्क आदि हैं। ये सब शरीरके निर्वाहके लिये काम करते हैं। सब अवयवोंके काम अलग-अलग हैं। हाथका काम लेने-देनेका है। पैरोंका काम चलना है। इन्द्रियोंका काम भी अलग-अलग है। प्राणोंके कार्य अलग-अलग हैं। मन-बुद्धिके काम अलग-अलग हैं। जैसे अलग-अलग काम करते हुए सभी अंग सबके हितमें लगे हुए हैं, इसी तरह अनेक प्राणी अलग-अलग काम करते हुए समाजके हितके लिये ही हैं। इसलिये उन सबको संसारके हितमें ही लगे रहना चाहिये।

हम जहाँ अपने स्वार्थके लिये काम करते हैं, वहीं भूल होती है। मान लो, हाथ केवल अपने लिये काम करें, पैर केवल अपने लिये काम करें, आँखें अपने लिये काम करें, कान अपने लिये काम करें तो ऐसी दशामें शरीरका निर्वाह नहीं होगा अर्थात् पैर कहें कि हम अपना ही काम करेंगे, शरीरको उठाये क्यों फिरें? हम शरीरको क्यों उठायें? हम हाथोंको क्यों उठायें? तो ऐसे शरीरका काम नहीं चल सकता, अंगोंका काम नहीं चल सकता। इसी तरह स्वार्थवश होकर यदि प्रत्येक प्राणी अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहे तो संसारका काम नहीं चल सकता; क्योंकि सभी प्राणी संसारके अवयव हैं—शरीर हैं।

शरीर किसी भी रीतिसे संसारसे अलग सिद्ध नहीं हो सकता अर्थात् बनावटकी दृष्टिसे, धातुकी दृष्टिसे, संरक्षककी दृष्टिसे, किसी भी रीतिसे अलग सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे, एक शरीरके अवयवोंकी आकृति, उनके कर्म अलग-अलग होते हुए भी वे सभी एक शरीरके अंग हैं, वैसे ही संसारमें छोटे-बड़े जितने भी प्राणी हैं, वे सभी एक विराट् शरीरके अंग हैं। विराट् शरीरके अंग होकर वे विराट् शरीरके हितके अतिरिक्त अपना व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध करते हैं तो भूल करते हैं।

पशु-पक्षियोंमें यह विवेक नहीं है कि वे अपना स्वार्थ सिद्ध करें अथवा न करें, पर मनुष्योंको भगवान्‌ने विवेक दिया है। इसलिये साधकोंके मनमें यह विचार आता है कि हम अपना ही स्वार्थ कैसे सिद्ध करें? परंतु स्वार्थरत मनुष्य अपने कुटुम्बके पालनमें ही लगे रहते हैं। उदारचरित पुरुषोंकी दृष्टिमें सारी वसुधा ही अपना कुटुम्ब है—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

'यह अपना है, यह पराया है, ऐसी गिनती तुच्छ विचारवाले पुरुषोंकी होती है। जिनके हृदयका भाव तुच्छ है, जो स्वार्थरत हैं, उन लोगोंकी ऐसी भावना होती है। उदार भावनावाले पुरुषोंके लिये सारा संसार ही कुटुम्ब है।' जैसे, अपने घरमें रहनेवाले पारिवारिक सदस्य अपने कुटुम्बी हैं, ऐसे ही उनकी दृष्टिमें कोई भी प्राणी हो, चाहे वह स्थावर हो या जंगम, वह अपने कुटुम्बका है—वास्तवमें यही मानवता है।

शास्त्रोंमें आया है कि घरमें रहनेवाली चींटियाँ, मक्खियाँ, चूहे सभी हमारे कुटुम्बी हैं। वे भी उसे अपना घर मानते हैं। चिड़ियाँ जहाँ अपना घर बनाती हैं, वहाँ वे दूसरी चिड़ियोंको नहीं रहने देतीं। सोचिये, एक घरमें कितने घर हैं। सबका अपना-अपना घर है। अपना-अपना घर समझकर काम करना—यह पशुता है। भागवतमें आया है—'**पशुबुद्धिमिमां जहि**'—इस पशु-बुद्धिको छोड़ दो। शरीरको 'मैं-मेरा' मानना ही पशुबुद्धि है। अहंता-ममता करना मानवी बुद्धि नहीं है।

मानवी बुद्धिमें सबके हितमें अपना हित है। उसमें अपना व्यक्तिगत हित नहीं होता। सबका हित ही अपना हित है। आज हमलोगोंकी आध्यात्मिक उन्नतिमें देरी हो रही है। इसका कारण क्या है? यही है कि हम अपना व्यक्तिगत हित ही चाहने लगे हैं। हम अपने व्यक्तित्व (परिच्छिन्नता) को कायम रखना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि मेरी मुक्ति हो जाय, मुझे सुख मिले, मेरा हित हो, मेरा स्वार्थ सिद्ध हो—ऐसा पशु-स्वभाव रखकर ही हम काम करते हैं। इसलिये हमारा शीघ्र उद्धार नहीं हो रहा है।

भगवान्‌ने गीताजीमें कहा है—'**परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ**' (३।११) अर्थात् मनुष्य देवताओंकी वृद्धि करें और देवता मनुष्योंकी वृद्धि करें। मनुष्य देवताओंका

पूजन करते रहें, उनका अर्चन करते रहें, उनकी वृद्धि करते रहें और देवता मनुष्यको कर्तव्यपालनकी आवश्यक सामग्री देते रहें, जिससे मनुष्य फिर उनका पूजन कर सकें। गीताके तीसरे अध्यायके दसवें श्लोकमें आया है कि यज्ञके सहित प्रजापतिने प्रजाको पैदा किया। 'यज्ञ' का अर्थ कर्तव्यसे है। जहाँ यज्ञका अर्थ कर्तव्य होता है, वहाँ मनुष्यों और देवताओंके कर्तव्यका वर्णन आता है। इसलिये यज्ञोंकी रचना कहकर मनुष्यों और देवताओंका कर्तव्य भी बता दिया। मनुष्योंके लिये केवल देवताओंकी ही वृद्धि करना कर्तव्य है—यह भाव नहीं है, प्रत्युत देवता तो यहाँ उपलक्षणरूपसे हैं। इसलिये मनुष्यके लिये प्राणिमात्रका हित चाहना कर्तव्य है। जिन प्राणियोंसे उसका सम्बन्ध है, उनके प्रति कर्तव्यका पालन करना और बदलेमें अपने लिये कुछ नहीं चाहना—यही मनुष्यमात्रका कर्तव्य है। इस प्रकार कर्तव्यका पालन करनेसे उसे कर्तव्यकी सामग्री स्वतः देवताओंसे और अन्य प्राणियोंसे मिलती रहेगी। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपने कर्मद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंकी सेवा करते रहना चाहिये। गीता (१८। ४६)-में भगवान्ने कहा है—'अपने-अपने कर्मोंसे भगवान्की पूजा करके मनुष्य अपना उद्धार कर लेता है'—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

इसलिये अपने कर्मोंद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंके रूपमें भगवान्का पूजन करके सिद्धिको प्राप्त करो। जैसे हाथ अपने कर्मोंद्वारा शरीरके सभी अंगोंकी सेवा करे, मुख अपने कर्मोंद्वारा सबकी सेवा करे। पेटमें अन्न जाय तो वह उसको सभी नाड़ियोंतक पहुँचाकर सेवा करे। इसी तरह मनुष्य अपने स्वार्थकी भावना न रखकर सबकी सेवा करे तो उसे कल्याणकी प्राप्ति सहज ही हो जाय।

परम श्रेयकी प्राप्तिमें बाधक है—अपने स्वार्थकी भावना। हममें कुटुम्बगत, व्यक्तिगत स्वार्थ-भावना है, अपनी जातिगत, देशगत स्वार्थ-भावना है—यही घटियापन है। उदारताके भाव जितने अधिक होंगे, उतना ही अच्छा होगा। तुच्छ भाव जितने आते जायँगे अर्थात् शरीरके लिये सीमित स्वार्थ-भाव रहेगा, उतना ही तुच्छ रहेगा। अपने पास जो वस्तुएँ हैं, वे समष्टिकी हैं और सबकी सेवाके लिये हैं। अपना निर्वाह करो और सबकी सेवा भी करो। अपनी-अपनी वस्तुओंको केवल अपने सुख-भोगके लिये ही मत समझो। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

एहि तनु कर फल विषय न भाई।

इस मनुष्य-शरीरका लक्ष्य विषय भोगना नहीं है, संसारका सुख लेना नहीं है, किंतु सबकी सेवा करना है। इसलिये सबको सुख कैसे पहुँचे, सबका भला कैसे हो, सबको आराम कैसे पहुँचे—इन बातोंका चिन्तन करते रहो। गीताके तीसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें मनुष्योंको देवताओंकी वृद्धि करनेके लिये कहा गया है। फिर बारहवें श्लोकमें यह कहा गया है कि देवतालोग मनुष्योंको 'इष्ट भोग' देंगे। 'इष्ट भोग' का अर्थ प्रायः टीकाकार इच्छित पदार्थ ही लेते हैं; परंतु यहाँ इस प्रकरणमें आगे (पहले), बीचमें और पीछे परम श्रेयकी प्राप्तिकी बात है। नवें श्लोकमें कहा गया है कि 'यज्ञके लिये किये जानेवाले कर्मोंके अतिरिक्त कर्म बाँधनेवाले हैं।' तात्पर्य यह है कि यज्ञके लिये कर्म किया जाय तो मुक्ति होगी, अन्यथा बन्धन होगा। ग्यारहवें श्लोकमें परम कल्याणकी प्राप्तिकी बात कही गयी है और तेरहवें श्लोकमें कहा है कि 'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होते हैं' अर्थात् कल्याणको प्राप्त होते हैं। इसलिये जहाँ परम कल्याणकी प्राप्तिका प्रकरण है, वहाँ देवता लोग इच्छित भोग मनुष्योंको देंगे—यह बात कहना प्रासंगिक नहीं प्रतीत होता। इसलिये यहाँ 'इष्टभोगान्' पदोंका अर्थ इच्छित पदार्थ न लेकर 'यज्ञकी सामग्री' लेना चाहिये।

'भुज' धातुका एक अर्थ 'पालन' होता है और दूसरा अर्थ 'खाना' होता है। पालन अर्थमें भुज धातु 'भुनक्ति' परस्मैपद होती है और 'खाने' अर्थमें 'भुङ्क्ते' पद होता है, वह आत्मनेपद होता है। 'अवनिं भुनक्ति' और 'ओदनं भुङ्क्ते'—ऐसे वाक्य बनते हैं। पृथ्वीका पालन करनेके अर्थमें और भात खानेके अर्थमें—दोनोंमें 'भुज' धातु व्यवहृत होती है। 'भोग' शब्द दोनों अर्थोंमें बनता है। इसलिये जहाँ कल्याणकी बात चल रही हो, वहाँ सबकी रक्षाके आवश्यक पदार्थ अर्थात् यज्ञकी सामग्री अर्थ लेना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। भगवान्ने बारहवें श्लोकमें 'भुङ्क्ते' पद देकर यह बात बतायी है कि सबके लिये दी हुई सामग्रीको जो अकेला खा जाता है, वह चोर है। यदि भोग

केवल मनुष्यके लिये दिया हुआ होता और वह उसे खाता तो उसे चोर कहना युक्तिसंगत नहीं है। इसलिये मनुष्यको जो भी सामग्री मिली है, उसे वह अकेले भोगनेका अधिकारी नहीं है। वह सामग्री उसे सबकी सेवामें लगानेके लिये ही मिली है।

किसीके घरमें यदि पैसे कमानेवाला व्यक्ति कह दे कि 'मैं ही कमाता हूँ, मैं अकेला ही खाऊँगा।' तो क्या यह बात न्याययुक्त होगी? स्त्रीको कह दे कि 'तू तो घरपर बैठी रहती है, तुझे क्यों कमाईका हिस्सा दिया जाय? मैंने परिश्रम किया है, मैंने कमाया है। मैं अकेला ही भोग करूँगा।' इस परिस्थितिमें क्या परिवार सुचारुरूपसे चलेगा? कभी नहीं। ऐसे ही हम अपने-अपने स्वार्थकी बातें करें तो सृष्टिका काम ठीक तरहसे नहीं चल सकेगा। स्वार्थका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करनेसे ही सृष्टिचक्र ठीकसे चलेगा। इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें कर्तव्य-पालन न करनेवालेकी बड़ी भारी भर्त्सना (निन्दा) की है (३।१६)। मनुष्य यदि अपने कर्तव्यका सुचारुरूपसे पालन करे तो मुक्ति स्वतः सिद्ध है। कर्तव्यका सम्बन्ध केवल परहितमें ही हो सकता है। कर्तव्य अपने लिये करना भोग है, कर्तव्य नहीं।

मनुष्य अपने कर्तव्यका सुचारुरूपसे सांगोपांग पालन न करके ही बन्धनमें पड़ता है; नहीं तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है। हमारे पास जो कुछ है, वह सब संसारसे ही हमें मिला है। अन्न है, जल है, वस्त्र है, हवा है, पानी है, रहनेका स्थान है—ये सब हमें समष्टि संसारसे मिले हैं। धनी-से-धनी राजा-महाराजा भी यह नहीं कह सकता कि मैं दूसरोंसे सेवा लिये बिना अपना निर्वाह कर सकता हूँ। अकेला अपना निर्वाह कोई भी नहीं कर सकता। सड़कपर चलता है, तो क्या सड़क अपनी बनायी हुई है? वृक्षके नीचे मनुष्य आराम करता है तो क्या वृक्ष उसका अपना लगाया हुआ है? कहीं जल पीता है तो क्या कुआँ उसने ही खुदवाया है? संसारसे लेना ही पड़ता है। अपने निर्वाहके लिये हमें सबसे सेवा लेनी ही पड़ती है? इसलिये यदि वास्तवमें हम मनुष्य हैं, तो हमने जितना लिया है, उससे अधिक देना चाहिये। सबके हितके लिये हमें काम करना चाहिये। जब औरोंकी उदारतापर हम जीते हैं, तब हमें भी औरोंके प्रति उदार होना चाहिये। सबके हितमें रत रहनेसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः**' (गीता १२।४), इसलिये हमें सबके हितकी भावनासे ही कर्तव्य-कर्म करने चाहिये।

सारा संसार भी मिलकर एक आदमीकी इच्छाकी पूर्ति कर दे—यह सम्भव नहीं है। परंतु एक आदमी सारे संसारके हितकी भावना पूरी कर सकता है। हम भले ही एक आदमीकी सारी इच्छाएँ पूरी न कर सकें; परंतु अपने पास जो सामग्री है, उसे उदारतापूर्वक दूसरोंके हितमें समर्पित कर दें तो हमें कल्याणकी प्राप्ति अवश्य हो जायगी।

मनुष्य जितने कम व्यक्तियोंके सुखका, हितका भाव रखेगा, उतना ही वह नीचा समझा जायगा। कमानेवाला यदि केवल अपना पेट भरेगा या आप ही अधिक खर्च करेगा तो घरमें आदर नहीं पायेगा। जो अपने स्वार्थका त्याग करके दूसरोंके हितमें जितना अधिक खर्च करेगा, वह उतना ही ऊँचा माना जायगा। जो जितना अपना व्यक्तिगत स्वार्थ छोड़कर कुटुम्बकी सेवा करेगा, वह उतना ही अच्छा माना जायगा। जो कुटुम्बके सिवा पड़ोसियोंकी सेवा करेगा, वह और भी ऊँचा होगा। पड़ोसियोंका ही नहीं, सम्पूर्ण गाँववालोंका हित करेगा तो वह और ऊँचा होगा। केवल गाँवका ही नहीं, प्रान्तका हित करेगा, वह और ऊँचा होगा। इसी प्रकार प्रान्तका ही नहीं, सारे देशका, सारे विश्वका हित करनेवाला उनसे श्रेष्ठ माना जायगा। जो केवल मनुष्योंकी ही नहीं, देवता, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि सब जीवमात्रकी सेवा करेगा, वह और भी श्रेष्ठ होगा। इसी प्रकार जो भगवान्‌की सेवा करेगा तो वह सर्वश्रेष्ठ हो जायगा। जैसे, वृक्षके मूलमें जल देनेसे सारा वृक्ष हरा हो जाता है; इसी तरह संसाररूपी वृक्षके मूल भगवान्‌का चिन्तन करनेसे, भगवान्‌का भजन करनेसे उसके द्वारा संसारमात्रकी सेवा स्वतः होगी।

सिद्धान्त यह हुआ कि जितनी सेवा व्यापक होती जायगी, उतना ही सेवा करनेवाला श्रेष्ठ बनता जायगा। हमें जो कुछ मिला है, वह सृष्टिसे मिला है। इसलिये ईमानदारीसे उसे सृष्टिकी सेवामें लगा देना ही हमारा परम कर्तव्य है—यही गीताका कर्मयोग है।

श्रीकृष्णतत्त्व

(पं० श्रीगोपालभट्टजी, एम्० ए०)

अपने देह, कुटुम्ब एवं संसारके अन्यान्य व्यवहारोंका निर्वाह करते हुए पाप-पुण्य, यश-अपयश, हानि-लाभ, जीवन-मरण, हर्ष-शोक आदि विविध द्वन्द्वोंके बीच फँसे इस मानव-जीवसे यदि कुछ श्रेय-प्रेयादिका साधन बन जाय और किसी जन्म-जन्मान्तरके पुण्यतन्तुसे कुछ भगवत्तत्त्वका आभास मिल जाय, तब तो समझ लेना चाहिये कि जीवका कल्याण निश्चित ही है। सौभाग्यसे ज्ञाननिर्धूतकल्मष सद्गुरुजनोंकी कहीं कृपाविशेष हो जाय और उस जगदीश्वरके पावन चरणोंमें प्रेमभावपूर्णा अनुरागात्मिका भक्ति हो जाय, तब तो मानो जीवका बहुत बड़ा पुरुषार्थ सिद्ध हो गया। कहा ही गया है—**नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते** क्षीणपाप मनुष्योंमें ही श्रीकृष्णके प्रति भक्ति उत्पन्न हो पाती है। पापका लेशमात्र भी रहेगा, तबतक भला जीव कैसे श्रीकृष्णकी भक्तिमें लग सकेगा। यदि कोई ऐसा कृतपुण्य जीव है, तो उसकी श्रीकृष्णमें अवश्य ही प्रीति होगी। श्रीकृष्णतत्त्वका ज्ञान बड़ा कठिन एवं दुर्लभ है और यदि उसमें भक्ति हो जाय, तब तो सोना और सुगन्ध दोनों ही मिल गये। इस भक्तिके भी श्रवण, कीर्तन आदि नौ प्रकार होते हैं। किसी भी साधनसे उसकी आराधना बन सकती है; परंतु यदि प्रेमरूपा भक्ति कदाचित् बन जाय, तब तो कहना ही क्या है। श्रीव्रजराज नन्दबाबा एवं माँ यशोदाके श्रीकृष्णके बाललीलासुखके भाग्योदय एवं उनके प्रति अप्रतिम परमोत्कृष्ट प्रगाढ़ वात्सल्यभावके आख्यानका श्रवण करते ही महाराज परीक्षित् भगवान् श्रीशुकदेवजीसे उनके इस दिव्य भाग्योदयका रहस्य पूछने लगे, तब श्रीशुकदेवजीने उन दोनोंके पूर्वजन्मोंकी तपश्चर्या और उसमें माँगे हुए वरदानमें इसी वात्सल्यभावसे परात्परतत्त्व श्रीकृष्णकी आराधनाकी एवं उनके प्रति अलौकिक प्रेमकी कामनाके सौभाग्यका वर्णन श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार किया है—

नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम्।
यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः॥
पितरौ नान्वविन्देतां कृष्णोदारार्भकेहितम्।
गायन्त्यद्यापि कवयो यल्लोकशमलापहम्॥
द्रोणो वसूनां प्रवरो धरया सह भार्यया।
करिष्यमाण आदेशान् ब्रह्मणस्तमुवाच ह॥
जातयोर्नौ महादेवे भुवि विश्वेश्वरे हरौ।
भक्तिः स्यात् परमा लोके ययाञ्जो दुर्गतिं तरेत्॥
ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्दने।
दम्पत्योर्नितरामासीद् गोपगोपीषु भारत॥

(१०।८।४६—४९, ५१)

रासलीला-प्रसंगमें भी श्रीगोपीजनोंके श्रीकृष्णके प्रति प्रगाढ़ प्रेमभावकी बात कहकर इस तथ्यकी पुष्टि की गयी है कि श्रीकृष्णमें प्रेमानुगा भक्ति कृतपुण्यपुंज जीवोंका ही भाग्यफल है।

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥
दुहन्त्योऽभिययुः..........................।
ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः॥
अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥
दुःस्सहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमंगलाः॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥
यर्ह्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीला-
वन्तर्गृहे तदबलाः प्रगृहीतपुच्छैः।
वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ
प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जहृषुर्हसन्त्यः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।४-५, ८—११; १०।८।२४)

सारे संसारके व्यवहारकार्य श्रीकृष्णके लिये ही हैं, उनकी ही पवित्र सपर्यासे उनके प्रति प्रगाढ़ प्रीति जाग्रत् हो जाय, उनका कृपाप्रसाद मिल जाय—बस, यही तो जीवनका परमोत्कृष्ट पुरुषार्थ है। भक्ति-साधनामें श्रीगोपीजनोंकी भक्ति-साधनाको ही प्रमाण मानकर सभी भक्ति-सम्प्रदायाचार्योंने **'प्रमाणं तत्र गोपिकाः'** कहा

है। भक्ति-समाराधनाकी आचार्या गोपीजन हैं। **'गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम्'** अपने दोनों पुत्रोंकी परम साधारण बालकोंकी तरह बाललीलाको देख-देखकर माँ यशोदा एवं श्रीरोहिणी माँ अपने घरके कार्योंतकको कर सकनेका अवसर न पाती थीं। यह उनके मनकी अनवस्थित कृष्णात्मिका अवस्था थी। श्रीकृष्णकी इस बाललीलाका अवलोकन करते हुए गर्गमुनिद्वारा उपदिष्ट भगवत्तत्त्वप्रबोधसे नन्दबाबा भी अपने भाग्यको अहोभाग्य मानते थे— **'नन्दः प्रमुदितो मेने आत्मानं पूर्णमाशिषाम्।'** अतः ज्ञात है कि श्रीकृष्णतत्त्व कितने जन्म-जन्मान्तरोंके पुण्योंका फल है और उस परात्परतत्त्वमें प्रेमानुगा भक्ति तो बहुत ऊँची साधना है। इसे **'तदर्थविनिवर्त्तित-सर्वकामाः'** गोपीजनोंकी समाराधन-परम्परासे ही सीखा जा सकता है। **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** में श्रीकृष्ण भी इसी बातका आश्वासन अपने भक्तोंको देते हैं कि जिस भावसे तुम मुझे भजते हो, मैं उसी प्रकारसे तुम्हारा भजन करता हूँ।

सखी हौं स्याम रंग रँगी।
देखि बिकाय गई वह मूरति सूरति माँहि पगी॥

श्रीराधाकृष्णयुगलचरणोपासक श्रीगदाधर भट्टजी दक्षिण देशमें अपने गाँवके निकट एक कुएँपर बैठे इस पदका गान कर रहे थे; रास्तेसे दक्षिण-तीर्थयात्रा करते हुए कुछ वैष्णव व्रजभक्त चले जा रहे थे। उन्होंने यह पद सुना और याद कर लिया। यात्रासे लौटनेपर जब वैष्णवोंने इस पदका गायन श्रीजीवगोस्वामीके सामने किया, तब प्रेमाश्रुपात करते हुए रोमांचित हो श्रीजीवगोस्वामी उनसे बोले कि यदि ऐसे भक्त कहीं हों तो उन्हें अपने पास लाकर रखो। उनके सत्संगसे तो श्रीकृष्णानुरागकी साधना सरल ही नहीं, प्रत्युत सरस हो सकेगी। उन्होंने उन वैष्णवजनोंको एक श्लोक लिखकर दिया—

अनाराध्य राधापदाम्भोजयुग्म-
मनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत्पदाङ्काम्।
असम्भाष्य तद्भावगम्भीरचित्तान्
कुतः श्यामसिन्धो रसस्यावगाहः॥

'जबतक श्रीव्रजेश्वरी राधारानीके चरणकमलोंकी उपासना न की और श्रीयुगलस्वरूप श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाके नित्यविहारसे अलंकृत श्रीवृन्दावन-रज-रानीकी उपासना न की और उनकी ललित अनुरागमयी लीलाओंके श्रवण-कथनसे रसाप्लावितहृदय व्रजभक्तजनोंके बीच तद्भाव-गम्भीरचित्त रसिक महानुभावोंकी आराधनासरणि न देखी और उस प्रकारकी अपनी चर्या न बनायी, तबतक हम समझते हैं, श्रीकृष्णके श्याम रंगमें रँगना कैसे सम्भव हो सका और उस माधुरी मूर्तिके पुण्य दर्शनकर कैसे आप बिक गये? वह छवि तो क्षणभरको भी योगिजनोंके पूत हृदयमें नहीं ठहर पाती। वे भला, कैसे आपके ध्यानमें पग गये?' यदि ऐसे रसिक महानुभाव व्रजमण्डलके अतिरिक्त कहीं हों तो उन्हें लिवा लाओ, वे हमें व्रजवासका फल श्रीकृष्णानुराग अवश्य ही कृपा करके देंगे।' भक्तमण्डलीसे प्राप्त श्रीजीवगोस्वामीके इस सन्देशको पाकर श्रीकृष्णानुरागके आतुर भक्त श्रीगदाधर भट्टजी तुरंत उनके साथ हो लिये और श्रीवृन्दावनधामकी ओर चल पड़े। श्री 'नाभाजी' कृत 'भक्तमाल' एवं श्री 'प्रियादास' जी कृत उसकी विवृतिके अनुसार उक्त श्री 'गदाधर' भट्टजीके आख्यानसे तात्पर्य केवल मात्र इतना ही है कि श्रीकृष्णतत्त्वकी समाराधना और उसके प्रति प्रेमानुराग भक्तिके लिये व्रजेश्वरी श्रीराधारानीके चरणोंकी उपासना, श्रीवृन्दावन-धामका समाश्रयण तथा तद्भाव-गम्भीरचित्त रसिक महानुभावोंका सत्संग ही एकमात्र साधन है।

इस साधनमें जो संसारके सारे व्यवहार-बन्धनको छोड़कर—

सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इव विहंगा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥

—युगलस्वरूप श्रीराधाकृष्णके ललितलीलारससिन्धुमें निमग्न उन महानुभावोंद्वारा उनके नित्यविहार, नित्य-लीलादिकी दिव्यभावनायुक्त चर्चाएँ जब सुननेको मिलती हैं, तब श्रीकृष्णतत्त्वका बोध हो पाता है। इससे दिव्यानुरागपथ आलोकित होता है, तभी परम कारुणिक दीनबन्धु व्रज-विहारीका कृपाप्रसाद उस दीन भक्तको मिलता है। भक्तवत्सल श्रीकृष्ण तो अपनी उस दिव्य कृपाका भण्डार खोले बैठे हैं; परंतु कोई जीव द्वारपर कृपाका भाजन बने तो सही।

इस जीवका बड़ा दुर्भाग्य है कि अपने पुरुषार्थपर अर्जित जन्म-जन्मान्तरोंके पुण्य या अपुण्यबलको अपना

पुरुषार्थ और अपना भाग्य मानता है। कोई कठिन परिश्रमसे प्राप्त शुष्कज्ञानको और कर्मको अपनी बड़ी निधि मानता है और इसके बलपर अर्जित भौतिक ऐश्वर्यको अपना सर्वस्व मानकर उसके अनुकूल एवं अननुकूल फलोंसे अपने आपको सुखी और दुखी होनेकी कल्पना करता है। परंतु सभी भौतिक वस्तुओंके आपातमात्रमधुर, परिणाममें दुःखदरूपको जानता हुआ भी उस भगवत्तत्त्वकी जिज्ञासामें बढ़ना नहीं चाहता, जो '**सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः**' है—वस्तुतः उन परमार्थभूत अच्युतस्वरूप श्रीकृष्णके अतिरिक्त वाच्य कोई और भी तत्त्व है, यह समझना नहीं चाहता।

विनाच्युताद् वस्तुतरां न वाच्यं
स एव सर्वं परमार्थभूतः।

रे मन परसि हरि के चरन।
सुभग-सीतल कमल-कोमल त्रिबिध ज्वाला हरन॥

त्रिविधज्वालाहरण, कमल-कोमल और सुभगशीतल उन श्रीहरिके चरणोंकी उपासना न करता हुआ जीव न जाने किस दावानलकी लपटोंमें ही जलकर अपनी ऐहिक और पारलौकिक समस्त साधनाओंको निष्फल सिद्ध करनेकी ओर दौड़ा चला जा रहा है, कितना बड़ा उसका दुर्भाग्य है।

कलियुगपावनावतार श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके सिद्धान्तोंको संक्षेपमें बतलाते हुए भी इसी बातको कहा गया है—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्राग्रहो नः परः॥

'भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णयुगलस्वरूप ही वास्तवमें हमारे आराध्यदेव हैं और उनकी नित्यविहार-स्थली ही हमारी उपासनाकी जगह है और उपासनाकी वह पद्धति हमारी प्रमाणभूत आराधना-प्रणाली है, जिस भावसे व्रजवधूजनोंने युगल-स्वरूप श्रीराधाकृष्णकी उपासना की है। श्रीमद्भागवत हमारी इस उपासनाका सिद्धान्तभूत प्रमाण-ग्रन्थ है और श्रीराधाकृष्णके युगलचरणों एवं उनकी नित्य विहारस्थली श्रीवृन्दावनधामके प्रति अत्यन्त अनुरागमयी भावना (प्रेम) ही हमारा सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। संक्षेपमें श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुका यह मत है, जिसपर दृढ़ विश्वासपूर्वक हम अपनी कल्याण-साधनाकी चेष्टा करते हैं। इसीकी ओर हमारा उत्कृष्ट आग्रह है।'

उपर्युक्त प्रमाणसे भी यह सिद्ध हो जाता है कि आराध्य परमतत्त्व श्रीकृष्ण ही हैं, उन्हींकी अनुरागमयी उपासना जीवके कल्याणका एकमात्र साधन है।

जानीतं परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम्।

मृत्युंजय ध्यान विधान करें!

(पं० बाबूलालजी द्विवेदी, साहित्यायुर्वेदरत्न, मानसमधुप)

शरणागतका मृत्युतुल्य कष्टोंसे जो नित त्राण करें।
अष्टभुजी, त्रिनेत्र, मृत्युंजय, उमासहित कल्याण करें॥

ऊपरके दो हाथोंमें पावन अमरित घट ख्याल रहे।
नीचेके दो हाथोंसे शिव स्वयं शीश पर डाल रहे॥
एक हाथ रुद्राक्ष माल ले, एक हाथ मृग मुद्रा धार।
कमलासन पर सुधा सिक्त तनु, भीग रहा जो बारम्बार॥
दो हाथोंसे सुधा कुम्भ निज अंक लिये शिव ध्यान करें।
अष्टभुजी, त्रिनेत्र, मृत्युंजय, उमासहित कल्याण करें॥
है 'ह' कार शिवका बोधक अरु सदा सुव्यापक है 'औ' कार।
अनुस्वार दुःख हरे इसलिये—'हौं' प्रसाद बीज सुख-सार॥
उत्पादक, पालक, संहारक, त्रिगुण, त्रिदेव, रूप वह ओम।
है ओंकार जीव संरक्षण, जरा व्याधि नाशक ज्यों सोम॥
सिरसे सुधा वृष्टि शशि करता जो जन-जनमें प्राण भरे।
अष्टभुजी, त्रिनेत्र, मृत्युंजय, उमासहित कल्याण करें॥
चार सुधा घट बता रहे है मोक्ष हेतु पुरुषार्थ जरूरी।
धर्मपूर्वक अर्थ प्राप्त कर अपनी करें कामना पूरी॥
दूर करो मेरे शरीरके रोग आदि कर्मोंके बंध।
हों दीर्घायु, पुष्ट अमृत पा, तीन लोकमें हो यशगंध॥
हौं ओऽम् जूँ सः—जप करके, हम 'मधुप' आत्म उत्थान करें।
अष्टभुजी, त्रिनेत्र, मृत्युंजय, उमासहित कल्याण करें॥
मृत्युंजय तनु संस्पर्शित पावन अमृत रसपान करें।
अल्प मृत्यु दुख नाशहेतु मृत्युंजय ध्यान विधान करें॥

गुरुपूर्णिमापर विशेष—

गुरु-शिष्यका सम्बन्ध

(आचार्य श्रीगोविन्दरामजी शर्मा)

सत्यको जाननेकी गहन अभीप्सामें एक नवयुवकने अपने परिवार, अपने संसारको त्याग दिया और गुरुकी खोजमें निकला। जब वह नगरके बाहर निकल रहा था, तभी उसने एक वृद्धको देखा। उसकी आयु लगभग साठ वर्ष रही होगी। वह एक वृक्षके नीचे बैठा हुआ था। वह इतना शान्त, आनन्दित, चुम्बकीय आकर्षणवाला था कि युवक अपने-आप उसकी ओर खिंचा चला गया। वह उसके समीप पहुँचकर बोला, 'मैं एक गुरुकी तलाशमें हूँ। मैं आपके ज्ञानकी सुगन्धको अनुभव कर सकता हूँ। शायद आप मुझे बता सकेंगे कि मुझे कहाँ जाना चाहिये और गुरुकी कसौटी क्या है… ? मैं यह कैसे निश्चय करूँगा कि यही मेरा गुरु है ?'

उस वृद्धने कहा कि यह तो बहुत सरल है, और उसने विस्तारपूर्वक बिलकुल ठीक-ठीक वर्णन कर दिया कि वह व्यक्ति कैसा होगा, किस तरहका वातावरण उसके आसपास होगा, वह कितनी आयुका होगा। यहाँतक कि वह कौन-से वृक्षके नीचे बैठा मिलेगा, यह भी बता दिया। युवकने उस वृद्धको धन्यवाद दिया। वृद्धने कहा, 'मुझे धन्यवाद देनेका समय अभी नहीं आया है। मैं धन्यवादकी प्रतीक्षा करूँगा।'

तीस सालतक वह रेगिस्तानोंमें, जंगलोंमें, पहाड़ोंमें गुरुकी तलाश करता रहा, पर वे कसौटियाँ कभी भी पूरी न हो सकीं। थककर, पूरी तरहसे निराश होकर वह अपने गाँव वापस लौटा। अब वह जवान न था। जब वह घर छोड़कर गया था, उसकी आयु तीस वर्षके लगभग थी। अब वह करीब साठ वर्षका हो गया था। पर जैसे ही वह अपने गृहनगरमें प्रवेश करनेको था, उसने उसी वृद्धको, उसी वृक्षके नीचे बैठा हुआ देखा। वह अपनी आँखोंपर विश्वास ही न कर सका। उसने कहा—'हे भगवान्! इसी आदमीका तो उसने वर्णन किया था। उसने यहाँतक कहा था कि वह नब्बे सालका होगा… यही तो वह वृद्ध है। मैं कितना बेहोश रहा होऊँगा कि मैंने उस वृक्षको भी नहीं देखा, जिसके नीचे वह बैठा हुआ था। और वह सुगन्ध, जिसका उसने जिक्र किया था, वह दीप्ति, वह उपस्थिति, वह उसके चारों ओरकी जीवन्तता…।'

वह उसके पैरोंपर गिर पड़ा और उसने कहा—'यह कैसा मजाक है? तीस सालतक मैं भटकता रहा और आप सब जानते थे।' उस वृद्ध आदमीने कहा—'मेरे जाननेसे क्या अन्तर पड़ता है, सवाल यह है कि क्या तुम जानते थे? मैंने तो उसका एकदम ठीक-ठीक वर्णन कर दिया था, पर फिर भी भटकना पड़ा। केवल इस तीस सालके संघर्षके बाद ही तुममें थोड़ा-सा होश आया है, उस दिन तुमने मुझे धन्यवाद देना चाहा था और मैंने तुमसे कहा था कि अभी समय नहीं आया है, एक दिन समय आयेगा। तुम उसी दिन मुझे चुन सकते थे, लेकिन तुम्हारा भी दोष नहीं, तुम्हारे पास वे आँखें ही न थीं। तुमने मेरे शब्द तो सुने, पर तुम उनका अर्थ न समझ सके। मैं तुम्हारे सामने अपना ही वर्णन कर रहा था, पर तुम मेरी खोज कहीं और करनेकी सोच रहे थे।'

शिष्य गुरुको केवल संयोगसे ही पाता है, वह चलता है, गिरता है, फिर-फिर उठकर खड़ा होता है। धीरे-धीरे थोड़ी-थोड़ी जागरूकता उसमें आती जाती है। जहाँतक गुरुका सम्बन्ध है, वह कुछ विशेष लोगोंकी होशपूर्वक प्रतीक्षा कर रहा होता है। वह उन लोगोंतक पहुँचनेका हरसम्भव प्रयत्न भी करता है, लेकिन कठिनाई यह है कि वे सभी बेहोश हैं। गुरु तुम्हें अस्तित्व देता है, ज्ञान नहीं। वह तुम्हारे अस्तित्वको, तुम्हारे जीवनको अधिक विस्तृत करता है, लेकिन ज्ञानको नहीं। वह तुम्हें एक बीज देता है… और तुम भूमि बनकर उस बीजको अंकुरित होने, पनपने एवं खिलने दे सकते हो।

यही गुरु और शिष्यमें अन्तर है। गुरु जागा हुआ है, शिष्य सोया हुआ है। गुरुका काम शिष्यको जगाना है, जिससे वह अपने लक्ष्यको पहचानकर श्रेयमार्गपर

चलने लगे। जबतक शिष्यमें अपने कल्याणकी लगन नहीं है, मुमुक्षा नहीं है, उत्कट अभिलाषा नहीं है, तबतक वह सोया ही रहेगा। गुरुके सम्पर्कमें आकर भी वह सोया ही रहेगा। फल जब पककर तैयार हो जाता है, तो तोता स्वयं ही फलके पास पहुँच जाता है। ऐसे ही शिष्य जिज्ञासु है तो गुरु उसकी खोज कर लेता है। गुरु, शास्त्र, भगवान् सभी हैं और सब समय हैं, लेकिन शिष्यका आकर्षण संसारमें अधिक होनेसे उनकी ओर शिष्यकी प्रवृत्ति नहीं है। गुरु मिलनेपर भी शिष्य पहचान नहीं पाता है।

अर्जुन महाराज भगवान् श्रीकृष्णके सखा थे, किंतु भगवान्‌को नहीं जान पाये। किंतु युद्धके मैदानमें जब हताश होकर रथके पिछले भागमें बैठ गये, तब उन्हें गुरुकी आवश्यकता अनुभव हुई और उन्होंने कहा—'कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।'

तब भगवान्‌ने अर्जुन महाराजको समझाया कि बिना ज्ञानके व्यक्ति पंगु है। ज्ञानसे ही व्यक्तिका मोह निवारण हो सकता है तथा वह कर्म-बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो सकता है। 'उस ज्ञानको तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।' भगवान्‌ने यह भी कहा कि 'जितेन्द्रिय, साधन-परायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

गुरु तत्त्वके प्रति हमें जागरूक कर सकता है, जीवनके लक्ष्यका बोध करा सकता है, हमारे कल्याणका मार्ग दिखा सकता है, किंतु उस मार्गपर चलना तो शिष्यको ही पड़ेगा। जबतक शिष्य स्वयं जागेगा नहीं, होशमें नहीं आयेगा, तबतक उसे मुक्तिका आनन्द नहीं मिलेगा।

सन्त कहते हैं—

जो तू चेला देह को, देह खेह की खान।
जो तू चेला सबद को, सबद ब्रह्म कर मान॥

अर्थात् अगर शिष्य गुरुके शरीरको ही देखता है, तो शरीर तो मिट्टीकी खान है और यदि शिष्य गुरुकी वाणीको धारण करता है तो गुरुकी वाणी साक्षात् ब्रह्म है। प्राय: देखा जाता है कि शिष्य किसी ज्ञानी व्यक्तिको अपना गुरु मान लेता है और निश्चिन्त हो जाता है। वह उसके उपदेशोंके अनुसार आचरण नहीं करता है। अगर हमारा आकर्षण सांसारिक भोग-पदार्थोंमें ही है, अगर भगवान्‌के प्रति हमारी नाममात्रकी रुचि है तो हमारे जीवनमें भोग ही प्रधान रहेगा, परमात्माके साथ योग नहीं हो पायेगा। गुरु शिष्यको परमात्माका पथ दिखलाता है, परमात्माके स्वरूपके बारेमें जिज्ञासा पैदा करता है, तभी शिष्य परमात्माका साक्षात्कार कर पाता है, इसीलिये गुरुको गोविन्दसे भी बड़ा माना गया है।

गुरु किया है देह का, सतगुरु चीन्हा नाहिं।
भवसागर के जाल में, फिर फिर गोता खाहिं॥

सन्त कहते हैं—गुरु देह नहीं है, गुरु चेतन तत्त्व है, गुरुमें सतगुरुका दर्शन करो, वह परमात्म-स्वरूप है। अन्यथा जन्म-जन्मान्तरतक भवसागरमें डूबते रहोगे, उद्धार नहीं हो पायेगा।

गुरु अनेक रूपोंमें शिष्यको सवाँरता है, गढ़ता है, सर्जन करता है, उसका पोषण करता है तथा उसके विकारोंका नाश करता है। इसीलिये गुरुको ब्रह्मा, विष्णु और महेश एवं साक्षात् परब्रह्मकी संज्ञा दी गयी है।

गुरु समान दाता नहीं, दीन्हों दान अमोल।
क्या कोई जाने दान वह, जाको मोल न तोल॥

गुरुका ध्यान सब समय शिष्यके कल्याणकी ओर रहता है। वह उसे अपने जैसा बनाना चाहता है। अपनेसे भी श्रेष्ठ बनानेकी गुरुकी चाह रहती है।

वर्तमान युग कलुषता एवं मलिनताका युग है। कलियुगके दोषोंके बारेमें गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने

रामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें विस्तारसे वर्णन किया है। ऐसेमें सच्चे गुरुओंका भी अभाव होता जा रहा है। गुरु कंचन, कामिनी एवं कीर्तिमें अधिक आकृष्ट रहते हैं तथा त्यागकी जगह उनके जीवनमें विलासिताकी प्रधानता हो गयी है। उपदेश देनेवाले गुरुओंका अभाव नहीं है, किंतु उनके आचरण भ्रष्ट होते जा रहे हैं। ऐसे समयमें कल्याणकामी शिष्योंको गुरुको पहचाननेमें सावधान रहना है। व्यक्तिका विवेक ही उसका सबसे बड़ा गुरु है। उसका आदर करना चाहिये तथा ज्ञानके प्रकाशमें अपने उद्धारका प्रयास करना चाहिये। कहते हैं—

'पानी पीजिये छान कर, गुरु कीजिये जान कर।'

अर्जुन महाराज भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—'आप इस चराचर जगत्के पिता और सबसे बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं, हे अनुपम प्रभाववाले! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है?' अत: भगवान्को जगद्गुरु मानते हुए 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुं' एवं उनकी वाणी 'गीता'को उनका गुरुमन्त्र मानते हुए हमें इस सम्बन्धमें अपने कल्याणको ही सर्वोपरि महत्त्व देना चाहिये तथा कामी, कपटी और लोभी गुरुओंसे सावधान रहना चाहिये।

कहानी—

प्रभु-विश्वास

(श्रीरामरूपजी तिवारी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

उत्तर भारतमें भागीरथीके तटपर एक ग्राम है। वहाँ स्वामी ध्यानानन्द निवास करते थे। धीरे-धीरे उनका एक आश्रम बन गया। यह आश्रम धन-धान्यसे पूर्ण था। भक्तलोग स्वामीजीकी सेवा करते थे। दोनों समय कीर्तन-प्रवचन इत्यादि होते थे। कुछ साधक बाहरसे भी आकर रहते थे।

उस ग्राममें एक विचित्र साधु आये। उनके पास एक झोली थी, जिसमें कुछ फल-मेवा इत्यादि थे। वे साधु ग्रामके प्रत्येक घरके द्वारपर पहुँचते और राधाकृष्णकी धुन लगाते, लोग बाहर निकलकर आते और भिक्षा देने लगते। किंतु महाराज भिक्षा न लेते हुए, झोलीमेंसे निकालकर सबको फल इत्यादि वितरण कर देते। साधुके चेहरेपर तेज था, शान्ति थी और प्रेमका नि:स्पृह प्रकाश था। साधु गंगातटपर निवास करने लगे। ग्रामके लोगोंकी उनके प्रति श्रद्धा-भक्तिका अविरल प्रवाह बहने लगा—स्वामी ध्यानानन्दके प्रति लोगोंका खिंचाव कम हो गया।

स्वामी ध्यानानन्दके मनमें एक प्रश्न बार-बार उठता कि नये साधुके प्रति लोगोंका इतना आकर्षण तथा सम्मान क्यों है, मैं तो बहुत समयसे ग्रामवासियोंकी सेवा करता चला आया हूँ। इस प्रश्नने स्वामीजीकी शान्तिका अपहरण कर लिया। एक दिन स्वामीजी साधु महाराजसे एकान्तमें यह प्रश्न कर ही बैठे। साधु महाराजने कहा—'आपके प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर उस दिन दिया जायगा, जब आप मेरे साथ कभी बाहर चलेंगे और मैं आपको बिना सूचनाके चलनेके लिये कहूँगा।'

थोड़े दिनोंके पश्चात् एक दिन साधु महाराजने स्वामीजीको चलनेके लिये कहा—'दोनों बाहर निकल गये। दिनभर यात्रा करते रहे। धधकती ग्रीष्म ऋतुकी चिलचिलाती धूपमें जनविहीन तथा चरण-चिह्न-विरहित अरण्यके बीच यात्रा हो रही थी। स्वामीजीने कहा—'महाराज! कहीं विश्राम करना चाहिये।' स्वामीजी भूख और गरमीसे व्याकुल हो रहे थे। साधुने कहा—'मैंने अपना जीवन प्रभुको समर्पित कर दिया है। जब वे विश्राम देंगे, तब विश्राम करूँगा। मैं भिक्षा भी नहीं माँगता, जब वे खिला देते हैं, तब ग्रहण कर लेता हूँ। सूर्यास्त होने लगा। अन्धकारकी चादरका फैलाव बढ़ने लगा। इसी समय एक व्यक्तिने सामनेसे आकर साधु महाराजको प्रणाम किया और कहा—'महाराज! इस अन्धकारमें आप कहाँ जा रहे हैं, मेरे यहाँ रात्रिमें विश्राम कीजिये।' साधु और स्वामीजी उसके साथ चल दिये। वह एक टीलेकी तरफ बढ़ने लगा। उस टीलेपर उसका निवास था। वहाँ ले जाकर उसने साधु तथा स्वामीजीको अच्छा

आसन दिया, सब प्रकारकी सुविधा दी तथा भोजन करवाया। उस टीलेके चारों ओर घनी वनमाला फैली हुई थी। क्षितिज पृथ्वीसे आलिंगन कर रहा था। सब दृश्य अन्धकारमें विलीन हो रहे थे। साधु महाराज बोले—'देखो, इस गोलाकार क्षितिजके उस पार सूर्यभगवान्ने पदार्पण किया है, उनके जाते ही अन्धकारने अपने पैर फैला दिये हैं। क्या यह अन्धकार कोई सत्ता रखता है? क्या इसे कोई निकालकर बाहर कर सकता है। यह तो केवल प्रकाशका अभाव है। प्रकाशके आते ही अन्धकार नहीं रहता। यही बात प्रभु-विश्वासके सम्बन्धमें है। प्रभु-विश्वासका प्रकाश सब प्रकारके अभावके अन्धकारको दूर कर देता है। जबतक हम वस्तु, व्यक्ति, परिस्थितिमें विश्वास करते हैं, तबतक हमें अभाव, अतृप्ति, दु:ख, निराशा घेरे रहते हैं, जो हटाये नहीं जा सकते, भोजन करनेसे तृप्ति होती है, यह भ्रमात्मक है; क्योंकि वह तृप्ति ठहरती नहीं, फिर अतृप्ति आ घेरती है। किंतु प्रभु-विश्वाससे, प्रभु-समर्पणसे अतृप्ति, अभाव सदाके लिये चले जाते हैं। वस्तु, पदार्थ मिलें या न मिलें, शान्तिका साम्राज्य विशाल अपरिच्छिन्न आकाशकी भाँति कभी नहीं छोड़ता।'

साधु महाराज चुप हो गये। उनकी उस मूकतामें आनन्दकी छटा मूक नक्षत्रोंकी छटाके समान छिटक रही थी।

साधु महाराज ब्राह्ममुहूर्तमें उठ खड़े हुए और उन्होंने स्वामीजीसे चलनेके लिये कहा। आतिथेय महोदय भी आ गये। उन्होंने कुछ दिन विश्राम करनेके लिये आग्रह किया। स्वामीजीका भी आग्रह था—एक दिन वहाँ विश्राम किया जाय। सुन्दर भोजन, दूध, मीठा जल तथा सब सुविधाएँ वहाँ उपलब्ध थीं; किंतु साधुने कहा 'नहीं चलना ही होगा।' आगेका पथ कठिन था, कुछ भी प्राप्य न था। आगन्तुकने कहा—'थोड़ा भोजन लेते जाइये;' किंतु साधु महाराजने कहा 'संग्रह सर्वथा त्याज्य है, संग्रह प्रभु-विश्वासमें विघ्न है। केवल प्रभु-विश्वास ही जीवनका सहारा होना चाहिये।'

साधु तथा स्वामीजी यात्रापर निकल पड़े। आगेका प्रदेश मरुस्थल था। बालूके कण उड़-उड़कर शरीरको आच्छादित कर देते थे। मरुस्थलकी प्रचण्ड ऊष्मा, जलविहीन धराने स्वामीजीको विकल कर दिया। साधु महाराज भगवान्के नामका उच्चारण करने लगे। प्रगाढ़ अन्धकारने फिर घेरा डाल दिया—यात्रा असम्भव हो गयी। साधु तथा स्वामीजी एक वृक्षके नीचे ठहर गये। दूर एक टिमटिमाता प्रकाश आता हुआ दृष्टिगोचर हुआ। वह प्रकाश उसी वृक्षकी ओर आ रहा था। एक बूढ़ा एक लालटेन लिये आ गया। उसने उन्हें देखकर पूछा—'आप भूखे-प्यासे जान पड़ते हैं, थोड़ा भोजन कर लीजिये।' उसने कुछ भोजन दिया तथा जल पिलाया। उसके पास लोटेमें जल था और थैलीमें सूखा भोजन। स्वामीजीको पृथ्वीपर सोनेसे नींद नहीं आयी। किंतु साधु महाराज खूब सोये और उष:कालमें उठ खड़े हुए।

मरुस्थलमें उष:कालमें अनुपम सौन्दर्य होता है। क्षितिजके नीचेसे प्रकाशने फूटकर निर्मल आकाशको लालिमायुक्त कर दिया। साधु महाराज बोले—'जिस प्रकार निर्मल आकाशमें लालिमाकी भ्रान्ति हो रही है, उसी प्रकार हमारे निजस्वरूप आत्मामें भ्रान्तिसे सीमित अहंका भास हो रहा है। आकाश अनन्त है, अपरिच्छिन्न है, उसका वारापार नहीं है। लालिमा तो उससे बहुत नीचे है और वास्तवमें नहीं, केवल प्रतीतिमात्र है। सूर्य निकलनेपर कहीं लालिमाका पता नहीं लगता। वास्तवमें होती तो तब भी रहती। इसी प्रकार सीमित अहं भी अवास्तविक है, जाग्रत्में भासित होता है और फिर विलीन हो जाता है।

साधु महाराज और स्वामीजी यात्रापर चल दिये। साधुने पूछा—'स्वामीजी! आपको प्रश्नका उत्तर मिला कि नहीं?' स्वामीजीने कहा—'महाराज मिल गया, मैंने आश्रम बनाकर धन-धान्य-सामग्रीका संग्रह करके प्रभु-विश्वास खो दिया। जब मैं आया था, प्रभु-विश्वास था, लोगोंने सम्मान दिया और सब कुछ दिया। मैंने संग्रह किया और प्रभुसे दूर हो गया। मैंने सोचा कि मेरे पश्चात्

आश्रम चलानेके लिये धनकी आवश्यकता होगी। धन नहीं रहेगा तो आश्रम बन्द हो जायगा। मैंने प्रभुपर विश्वास न करके धनमें विश्वास किया। यह मेरी बड़ी भूल थी। अब मैं संगृहीत सब धन सेवामें व्यय करके प्रभुपर ही आश्रित रहूँगा।'

साधुने कहा—'स्वामीजी! सम्मान चाहनेसे नहीं मिलता। सम्मान जगत्की सेवा तथा प्रभुमें भक्तिसे स्वत: प्राप्त होता है। पर सम्मानमें कभी भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये।' स्वामीजीने कहा—आपको प्रभुकी अनन्य भक्ति कैसे प्राप्त हुई?

साधु—'मैं जिज्ञासु था, ब्रह्मसाक्षात्कार मेरा लक्ष्य था। विचार, मनन तथा निदिध्यासनसे मैंने ब्रह्मका साक्षात्कार किया। एक समय मैं मीराँका जीवन-चरित्र पढ़ रहा था, उसमें मैंने पढ़ा कि मीराँने अनन्त रसकी प्राप्ति की। मीराने एक प्रभुसे नाता जोड़ लिया, वह अर्धरात्रिको बिखरे हुए नक्षत्रोंकी छायामें महलसे निकल पड़ी। प्रभुके गीत गाती हुई, निर्जन प्रदेशमें भ्रमण करती हुई वृन्दावन पहुँची। वहाँ सुमधुर गीतोंसे, अनोखे नृत्योंसे वह श्रीकृष्णका आह्वान करने लगी। वहाँसे फिर कृष्णसे साकार भेंटके लिये द्वारका पहुँची, वहीं श्रीकृष्णसे उसका सशरीर मिलन हुआ। नित-नव रसका संचार हुआ और परम रसकी उपलब्धिकर वह श्रीकृष्णसे अभिन्न हो गयी। मीराँके जीवनसे मुझे एक प्रेरणा हुई कि श्रीकृष्णके रूपमें सविशेष ब्रह्मके दर्शन करूँ।'

'अर्धरात्रिको पूर्णचन्द्रकी श्वेत किरणें समस्त धरातलको स्नान करा रही थीं। उस समय गंगाकी लहरोंसे गीत-गोविन्दकी मधुर तानें सुनायी दे रही थीं। मैं अपनेको भूल गया। किसीने कहा—'वृन्दावन जाओ, वहाँ तुम्हारा श्रीकृष्णसे साक्षात् मिलन होगा।' मैं वृन्दावन आया और यमुना-तटपर बैठ गया। रात्रिके एकान्तमें एक श्वेत वस्त्र धारण की हुई महिला दिखायी दी। उसने मुझे देखकर कहा कि 'तू कौन है, यहाँ क्यों बैठा है? चला जा?' मैंने महिलाको प्रणाम किया और विनीत शब्दोंमें कहा—'मैं प्रेम-पंथका पथिक हूँ, श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये आया हूँ।' महिलाने कहा—'यदि तू श्रीकृष्णके दर्शन करना चाहता है तो श्रीकृष्णके किसी विग्रहके रूपमें उनका ध्यान कर, यों बैठे रहनेसे उनके दर्शन नहीं होंगे।' मैंने कहा—'मैं ध्यानके द्वारा श्रीकृष्णके मानस रूपके दर्शन नहीं करना चाहता, मैं तो उनके उस स्वरूपका दर्शन चाहता हूँ, जिस शरीरसे उन्होंने लीला की थी।'

महिलाने कहा—'ऐसा नहीं होगा, तू यहाँसे चला जा।'

'मेरी आँखोंसे अश्रुधाराका प्रबल वेग उमड़ पड़ा।' महिला बोली—'अच्छा, तू यहाँसे कुछ दूर चला जा और वहाँसे चुपचाप कृष्णके दर्शन कर लेना।' मैंने कहा—'मैं केवल दर्शन ही नहीं चाहता, मैं उनके चरणोंका स्पर्श, उनकी मधुर वाणीका श्रवण, उनके शरीरका सौरभ तथा उनके प्रसादका रस भी प्राप्त करना चाहता हूँ, ताकि प्राकृतिक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धसे सदाके लिये मुक्त हो जाऊँ। विषयरूपी शब्द, रस, रूप, स्पर्श तथा गन्धसे कभी तृप्ति नहीं होती; क्योंकि क्षणिक तृप्तिके पश्चात् फिर अतृप्ति आ जाती है। किंतु श्रीकृष्णके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी सदैव उपलब्धि होगी; क्योंकि वह दिव्य—अलौकिक है।' महिलाने कहा—'ठीक है।'

'रात्रिका समय था। यमुनाका कलरव सुनायी देता था। प्रकृति निस्तब्ध थी। नक्षत्रोंका झिलमिला प्रकाश पृथ्वीपर पड़ रहा था। दूरसे बाँसुरीका शब्द सुनायी दिया और देखते-देखते श्रीकृष्ण आ गये। उनके मुखकी शोभा अवर्णनीय थी। माधुर्य फूट-फूटकर बह रहा था। उनके शरीरसे एक ज्योति निकल रही थी। मैंने चरण-स्पर्श किया। उन्होंने माखन अपने हाथसे मेरे मुखमें दे दिया और वे अदृश्य हो गये।'

इतना कहकर साधु मूक हो गये। स्वामीजी भी मूक हो गये। ग्राम निकट आ गया। स्वामीजीने साधुके चरणोंकी धूलि अपने मस्तकपर लगायी और विदा हो गये।

सुना गया, बादमें स्वामीजी भी साधु हो गये। आश्रमका धन-धान्य सब वितरण कर दिया और वृन्दावनधामकी ओर रवाना हो गये।

पुरुषोत्तम भगवान् श्रीजगन्नाथदेव और उनकी रथयात्रा

(श्रीगंगाधरजी गुरु)

विश्वप्रपंचके पोषण-रक्षणके दायित्वको अपरिमित वात्सल्यसे वहन करनेवाले भगवान् श्रीहरिकी भारतवर्षमें अनेक लीलाभूमियाँ हैं, जिनमें उत्कल-प्रदेशका पुरुषोत्तम क्षेत्र विशेष प्रसिद्ध है। पुरुषोत्तम जगन्नाथदेवके वहाँ अवस्थानकी विविध कथाएँ पुराणोंमें वर्णित हैं, जिनमें ब्रह्मपुराणीय कथा अतिशय प्रख्यात है। तदनुसार सत्ययुगमें इन्द्रद्युम्न नामक इन्द्रसदृश पराक्रमी, सर्वसद्‌गुणसम्पन्न एक राजा थे। मालवा देशकी अवन्ती नगरी उनकी राजधानी थी। वे प्रजाओंका पुत्रवत् पालन करते थे। एक दिन उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं किस प्रकार भोगमोक्षदाता योगेश्वर श्रीहरिकी आराधना करूँ? आराधनाके लिये मैं किस क्षेत्र, किस तीर्थ अथवा किस आश्रमपर जाऊँ? बहुत कालतक विचारकर राजा इन्द्रद्युम्नने सर्वोत्तम तीर्थ पुरुषोत्तम क्षेत्रमें जानेका निश्चय किया।

राजा सैन्य-सामन्त-पुरोहितादिके सहित दक्षिण समुद्रकी ओर चल पड़े। समुद्रका दर्शनकर वे विस्मयाभिभूत हो गये और वहीं समुद्रतटपर एक पवित्र स्थानमें राजाने विश्राम किया। उस श्रीक्षेत्रमें महाराज इन्द्रद्युम्नने विविध सुरम्य स्थानोंके दर्शन किये। अवतारश्रेष्ठ जगन्नाथके उस मानसतीर्थक्षेत्रमें पहले इन्द्रनीलमणिसे निर्मित प्रतिमा विराजित थी, जिसे स्वयं भगवान्‌ने छिपा दिया था।

भगवान्‌ने उस प्रतिमाको इसलिये तिरोहित कर दिया था कि प्रतिमाका दर्शनकर पृथ्वीके सब मनुष्य भगवद्धाममें चले जाते थे। सब लोगोंको वैकुण्ठधाममें जाते देख धर्मराज यमराजने भगवान्‌के पास आकर कहा—'प्रभो! इस विख्यात पुरुषोत्तमतीर्थमें आपकी जो श्रेष्ठ प्रतिमा है, उसका दर्शनकर सभी मनुष्य कामनारहित हो आपके श्वेतधाममें चले जाते हैं। अतः मेरी धर्ममर्यादा जो आपने नियत की है, वह नष्ट हो गयी है। भगवन्! कृपा करके आप अपनी प्रतिमाको तिरोहित कर लें। तब भगवान्‌ने चारों ओरसे बालुकासे उस प्रतिमाको आवृत कर दिया।

राजा इन्द्रद्युम्नने दृढ़ संकल्प किया कि मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे भगवान् विष्णु मुझे साक्षात् दर्शन देंगे। अनन्यभावसे भगवन्मन्दिरनिर्माण करनेके लिये दृढ़संकल्प होकर राजा अपने कर्तव्यमें लग गये। पुरुषोत्तमप्रासादनिर्माणकार्य विधिपूर्वक सम्पन्न हुआ। अब राजाको अहर्निश भगवत्प्रतिमाके लिये चिन्ता सताने लगी। वे सोचने लगे—लोकपावन पुरुषोत्तम विग्रहकी मैं किस प्रकार प्राप्ति कर सकूँगा? कैसे विष्णुप्रतिमाका निर्माण किया जा सकेगा? यह सोचकर वे भगवान्‌के शरणापन्न हुए और अनेक भावमयी प्रार्थनाएँ कीं।

स्तुति-प्रार्थनाके उपरान्त राजा वहीं धरतीपर कुश और वस्त्र बिछाकर चिन्तामग्न हो सो गये। देवाधिदेव भगवान्‌ने राजाको स्वप्नमें अपने स्वरूपका दर्शन कराया एवं कहा—'राजन्! तुम धन्य हो, तुम्हारे श्रद्धा-विश्वाससे मैं सन्तुष्ट हूँ। तुम चिन्तित न होओ, मैं तुम्हें प्रतिमा-निर्माणका उपाय बताता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो—'आजकी रात बीतनेपर सूर्योदयके समय समुद्रतटपर जाना। वहाँ समुद्रप्रान्तमें एक विशाल वृक्ष सुशोभित है, जिसका कुछ अंश तो जलमें और कुछ अंश स्थलपर

है। समुद्रकी लहरोंसे आहत होनेपर भी वह वृक्ष कम्पित नहीं होता। तुम हाथमें तीक्ष्ण अस्त्र लेकर अकेले ही वहाँ जाना और उस वृक्षको काट डालना। वहाँ तुम्हें कुछ अद्भुत वस्तु दिखायी देगी। विचार-विमर्शकर उसीसे दिव्य प्रतिमाका निर्माण करना। अब मोहप्रद चिन्ता त्याग दो।'

तत्पश्चात् श्रीहरि अदृश्य हो गये। राजा विस्मित हुए। प्रातः उठकर वे समुद्रतटपर पहुँचे एवं स्वप्नानुसार तेजस्वी वृक्षराजको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने उस वृक्षको काट गिराया और दो टुकड़े करनेका विचार किया। जब वे काष्ठका भलीभाँति निरीक्षण कर रहे थे, तभी उन्हें सहसा दो ब्राह्मणवेशधारी दिव्य पुरुष दिखायी दिये। ब्राह्मणोंने राजाके पास आकर पूछा—आपने किसलिये वनस्पतिको काट गिराया है? राजाने कहा—'आराधनाके लिये मैं विष्णुकी प्रतिमाका निर्माण करना चाहता हूँ। तदर्थ स्वप्नमें भगवान्ने मुझे प्रेरित किया है।' यह सुनते ही विप्ररूपधारी भगवान् जगन्नाथने सहर्ष कहा—'राजन्! आपका विचार अत्युत्तम है। मेरे ये साथी श्रेष्ठ शिल्पकार हैं, जो मेरे निर्देशानुसार प्रतिमानिर्माण करेंगे। तब विप्ररूपी विश्वकर्माने भगवदीय आज्ञाके अनुसार प्रतिमाओंका निर्माण कर दिया। जिनमें पहली मूर्ति बलरामकी, दूसरी श्रीजगन्नाथकी एवं तीसरी भगवान् वासुदेवकी बहन सुभद्राजीकी थी। यह देखकर आश्चर्यचकित हो इन्द्रद्युम्नने पूछा—विप्ररूपमें आये आप कौन हैं? तब भगवान्ने कहा—मुझे पुरुषोत्तम नारायण समझो। वेदोंमें तथा धर्मशास्त्रोंमें जिसका उल्लेख हुआ है, वही मैं हूँ। संसारमें जो कुछ वाणीद्वारा वर्णनीय है, वह मेरा ही स्वरूप है। इस चराचर विश्वमें मेरे सिवा कुछ भी नहीं है।

भगवान्की वाणी सुनकर राजाके शरीरमें रोमांच हो आया। वे स्तुतिपूर्वक प्रणाम करते हुए बोले—जो निर्गुण-निर्मल, शान्त परमपद है, उसे मैं आपके प्रसादसे पाना चाहता हूँ। तब भगवान् राजाको 'तथास्तु' कहकर वर देते हुए विश्वकर्मासहित अन्तर्धान हो गये।

भगवत्साक्षात्कारसे कृतकृत्य हो बुद्धिमान् नरेशने श्रीबलराम, जगद्गुरु जगन्नाथ एवं वरदात्री देवी सुभद्राको मणिकांचनजटित विमानाकार कल्याणयानमें बिठाकर बड़ी धूमधामसे मन्त्रियोंसहित पुण्यस्थानमें प्रवेश कराया और यथासमय शुभ-मुहूर्तमें प्रतिष्ठा करायी।

महाराज इन्द्रद्युम्नने भगवान् जगन्नाथदेवके परम अनुग्रहसे उनके शाश्वत पदको प्राप्त कर लिया।

श्रीजगन्नाथदेवका यह लोकपावन क्षेत्र पर्व-उत्सवोंकी भूमि है। यहाँ वर्षभरमें लगभग चालीस छोटी-बड़ी उत्सवात्मक यात्राएँ एवं सौ-से भी अधिक पर्व आयोजित होते हैं। इनमें चन्दनयात्रा, स्नानयात्रा, नेत्रोत्सव, राजेन्द्राभिषेक, नीलाद्रिमहोदय, कृष्णजन्माष्टमी, कौमुदी महोत्सव, रथयात्रा पुण्याभिषेक, दोलयात्रा, झूलनयात्रा आदि विशिष्ट हैं। इन सभीमें सर्वाधिक प्रसिद्धि एवं महत्ता रथयात्राकी है। रथयात्राको ही गुण्डिचायात्रा या घोषयात्रा भी कहते हैं। आषाढ शुक्ल द्वितीयासे आषाढ शुक्ल दशमीपर्यन्त चलनेवाला यह नवदिवसीय यात्रोत्सव विश्वविख्यात है। इस महोत्सवमें तीन रथ सुसज्जित किये जाते हैं। जिनमें तालध्वज नामक प्रथम रथपर बलरामजी, देवदलन नामक द्वितीय रथपर देवी सुभद्रा एवं अस्त्रराज सुदर्शन और नन्दिघोष नामवाले तृतीय रथपर श्रीजगन्नाथदेव विराजमान होकर गुण्डिचामन्दिरकी ओर प्रस्थान करते हैं। इस उपक्रमका शुभारम्भ पुरीके राजपरिवारके प्रमुखके द्वारा होता है, क्योंकि पुरीके नरेश अपनेको जगन्नाथजीका प्रथम सेवक मानते हैं। प्रस्थानदिवसकी सन्ध्यातक भगवान् गुण्डिचामन्दिर पहुँच जाते हैं, दूसरे दिन रथसे उतरकर मन्दिरमें पधारते हैं और सात दिनोंतक वहीं विराजमान रहते हैं। दशमीको तीनों रथ भगवान्को लेकर पुनः लौटते हैं। इन नौ दिनोंके जगन्नाथजीके दर्शनको 'आड़पदर्शन' कहते हैं। इसका बहुत अधिक माहात्म्य माना गया है। इसके अनन्तर भी यात्राके अंगभूत कतिपय उपक्रम द्वादशीतक चला करते हैं। आषाढ शुक्ल द्वादशीको श्रीजगन्नाथदेव पुनः अपने स्थानमें विराजमान हो जाते हैं।

कमीकी पूर्तिका उपाय

(पं० श्रीलालजीराम शुक्ल)

प्रत्येक मनुष्य निरन्तर अपनेमें किसी-न-किसी कमीका अनुभव करता है—किसीको धनकी कमी है, तो किसीको मकानकी, किसीको सम्बन्धियोंकी कमी है,तो किसीको अपने शारीरिक स्वास्थ्यकी कमीका अनुभव होता है। कोई व्यक्ति अपने चरित्रकी कमीके लिये अपने आपको दुखी बनाये रहता है। इन सब प्रकारकी कमियोंकी पूर्ति कैसे हो? सभी मनुष्य अपने-अपने दु:खसे दुखी रहते हैं। एक कमीकी पूर्ति दिखायी पड़ी तो दूसरी कमीका अनुभव होने लगता है। अब प्रश्न यह है कि क्या कोई ऐसा एक ही उपाय है कि जिससे सभी कमियोंकी पूर्ति हो जाय?

इस प्रश्नपर विचार करनेसे एक उपाय सूझता है, वह यह कि जिस प्रकारकी कमीकी अनुभूति कोई व्यक्ति अपने-आपमें करे, दूसरेमें उसी प्रकारकी कमीकी खोज करके उसे पूरा करनेकी चेष्टा करे तो उसकी अपनी कमीकी अनुभूति नष्ट हो जाय। हालमें ही लेखकको चिन्ता हुई कि उसके पास रहनेके लिये मकान नहीं है और उसके बाद उसके बच्चोंके लिये भी मकान नहीं है। इस विचारने कुछ देरतक परेशान किया। आज प्रात:काल इस चिन्ताका निवारण अपने-आप हो गया। मनमें विचार आया कि जिस प्रकारकी वस्तुकी कमी तुम अपने लिये अनुभव करते हो, उसी प्रकारकी कमीकी पूर्ति दूसरेके लिये करो तो तुम्हारी कमीकी पूर्ति अपने-आप ही हो जायगी।

वास्तवमें यह विचार ठीक है। मनुष्य अपनी कमीके विषयमें जबतक चिन्ता करता है, तबतक उसका विचार नकारात्मक रहता है। वह कमीके बारेमें ही सोचता रहता है। फिर जो कुछ मनुष्य सोचता है, वही उसके साथ रहता है। पर जब मनुष्य दूसरे व्यक्तिकी कमीके बारेमें सोचने लगता है और उसकी पूर्तिकी चिन्ता करने लगता है, तब उसका विचार रचनात्मक हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य दूसरे व्यक्तिकी सहायतामें जितना सफल हो सकता है, अपने-आपके लिये प्रयत्न करनेमें उतना सफल नहीं होता है। जब मनुष्यका मन रचनात्मक कार्यमें लग जाता है, तो वह अपने-आपके लिये भी स्वयमेव ही सुन्दर सृष्टि कर लेता है।

मनुष्यकी इच्छाएँ उसकी कमीकी सूचक हैं। वे इच्छाएँ उसे केवल दुखी ही बनाती हैं। ये तबतक फलित नहीं होतीं, जबतक मनुष्य इच्छाओंकी ओरसे मुख नहीं मोड़ लेता। इच्छाओंकी ओरसे मुख मोड़नेसे इच्छाएँ फलित होने लगती हैं। जब हम किसी व्यक्तिसे अपने लिये पैसा माँगते हैं तो हम अपने-आपके गिर जानेका अनुभव करते हैं, पर जब हम अपने लिये न माँगकर सार्वजनिक कार्यके लिये पैसा माँगते हैं, तब हम आत्म-उत्थानका अनुभव करते हैं। इस मानसिक स्थितिमें दूसरे लोग हमारी सहायता भी करने लगते हैं। देखा गया है कि जिस बातकी किसी मनुष्यको चिन्ता हो जाती है, वह उसे पूरी करनेमें कभी भी सफल नहीं होता। उसकी चिन्ताकी मनोवृत्ति दूसरे लोगोंकी इच्छाशक्तिको भी निर्बल बना देती है। अतएव वे उसे सहायता न देकर उससे भागते हैं।

किसी प्रकारकी कमीके बारेमें नित्यप्रति चिन्ता करनेसे मन निर्बल हो जाता है। ऐसी अवस्थामें नकारात्मक भाव और भी प्रबल हो जाता है। जो व्यक्ति अपनी कमीको हटानेके लिये जितना ही अधिक चिन्तित रहता है, वह उतना ही उस कमीको दृढ़ बना देता है। रोगोंके विषयमें देखा गया है कि जो व्यक्ति अपने रोगके विषयमें जितना ही अधिक चिन्तित होता है, वह उस रोगसे उतना ही अधिक जकड़ जाता है। जब कोई व्यक्ति अपने रोगके प्रति उदासीन हो जाता है और सभी प्रकारके कष्ट और मृत्युतकके लिये अपने मनको तैयार कर लेता है, तब उसका रोग जाने लगता है।

लेखकके एक छात्रको क्षय रोगका संदेह हो गया था। कुछ डाक्टरोंने भी कहा था कि उसे क्षय रोग होने जा रहा है। यह उसकी पहली हालत है। रोगीको चारपाईसे न उठनेका आदेश एक डाक्टरने दिया। घरके लोग घबड़ाये हुए थे। वह कुछ दिनोंतक इसी प्रकार रहा। अपनी चारपाईसे नहीं उठता था। पर इस प्रकार वह प्रतिदिन निर्बल होता गया। एक दिन उसके मनमें आया कि मरना यदि निश्चित है तो इससे डरना क्या?

अब मृत्युका स्वागत ही करना चाहिये। इस विचारके आते ही उक्त विद्यार्थीके विचार आशावादी बन गये। वह फिर अपने अभिभावकोंसे छिपकर घूमने जाने लगा। कुछ दिनों बाद वह अपने-आपमें परिवर्तन देखने लगा। अन्तमें उसके क्षय रोगका अन्त हो गया।

लेखकके एक दूसरे मित्रके क्षय रोगका अन्त दूसरे लोगोंकी उसी रोगकी चिकित्साके प्रयत्नसे हो गया।

एक बार लेखकके पास एक सभामें जानेके लिये अच्छे कपड़े नहीं थे। उसे इस कमीकी अनुभूति हो रही थी। वह विचार करता था कि कपड़े कैसे तैयार हो जायँ, अभी पैसा भी नहीं मिला था। इसी बीच लेखकके एक शिष्यने अपने शिक्षककी इसी प्रकारकी कमीकी चर्चा की। इस शिक्षकको उसी सभामें पुरस्कार पानेके लिये बुलाया गया था। पर वह बेचारा इतना गरीब था कि सभामें उपस्थित भी नहीं हो सकता था। उसके विद्यार्थीको उसपर दया आयी और उसने अपने ओढ़ने-बिछानेके कपड़े ही शिक्षकको दे दिये। इसे देखकर लेखक अपनी कमीको भूल गया। इसी बीच उसने दर्जीको कुछ कपड़े सिलनेके लिये दिये थे। उसका मन इनसे उदासीन हो गया और वह बिना नये कपड़े लिये ही उक्त सभामें चला गया। पुराने कपड़े ही उसे फिर प्रिय बन गये। लेखकके मनमें भावना आती थी कि उस गरीब शिक्षककी सहायता की जाय। उसकी वास्तवमें सहायता कुछ भी नहीं की गयी। पर केवल भावनामात्रने ही उसकी गरीबीको दूर कर दिया।

कोई भी मनुष्य धनको प्राप्त करनेकी चेष्टासे धनी कदापि नहीं बन सकता। धन दान करनेकी इच्छासे ही मनुष्य धनी बनता है। दान करनेका भाव मनुष्यके ध्यानको अपनी कमीसे हटाकर दूसरे व्यक्तिकी कमीपर लगा देता है। इस प्रकार वह अपने-आपमें पूर्णताकी अनुभूति करने लगता है। वह जितना ही दूसरेको पूरा बनानेकी चेष्टा करता है, अपने-आप भी वह उतना ही पूर्ण बनता जाता है।

जो विद्यार्थी भली प्रकारसे विद्या-अध्ययन करना चाहता है, उसे चाहिये कि वह दूसरे विद्यार्थीको पढ़ाने लगे। अपनेसे कमजोर विद्यार्थीको पढ़ानेसे न केवल उस विद्यार्थीको विद्या आ जाती है वरं अपना मन भी पढ़नेमें ठीकसे लगने लगता है। इससे उस विद्यार्थीमें आत्मविश्वास आ जाता है और वह दिन-प्रतिदिन अपनी उन्नति करने लगता है। किसी विषयका ज्ञान हमें तबतक ठीकसे नहीं होता, जबतक हम उसे किसी दूसरेको नहीं सिखा देते। दूसरेको सिखानेके प्रयत्नसे ही विद्या ठीकसे आती है। विचार प्रकाशित करनेसे दृढ़ होते हैं और अपने-आपकी समझमें आते हैं। अधिक पुस्तकें पढ़नेवाला व्यक्ति विद्वान् नहीं बनता। उसका ज्ञान केवल पुस्तकमें ही रह जाता है। पर जो अपने ज्ञानका दूसरोंके लिये वितरण करता है, वही सच्चा विद्वान् बनता है। उसकी विद्या समयपर काममें आती है। वह केवल मस्तिष्कके लिये बोझ बनकर नहीं रहती। जिस समय लेखक कालेजका छात्र था, अपने साथियोंको पाठ्य विषय पढ़ाया करता था। इसके परिणामस्वरूप उसके साथी तो परीक्षामें पास होते ही थे, वह स्वयं भी उस विषयको भलीभाँति जान लेता था। जो विषय जितना ही कठिन होता था, वह लेखकको उतना ही अधिक याद भी रहता था। सरल विषयको अधिक साथी नहीं पूछते थे, अतएव उसके संस्कार मनपर दृढ़ नहीं होते थे। कठिन विषयको अधिक लोग पूछते हैं, इसलिये उसे बार-बार अनेक प्रकारसे दुहराना पड़ता था। इस तरह वह विषय पक्का हो जाता था।

यदि कोई व्यक्ति अपने-आपमें किसी ऐसे दोषकी उपस्थिति देखे, जिसके कारण उसे बार-बार आत्मग्लानि हो तो इसके अन्त करनेका सर्वोत्तम उपाय यही है कि वह किसी दूसरे व्यक्तिको उसी प्रकारकी कमीसे छूटनेमें सहायता करे। एक व्यक्तिको सिगरेट पीनेकी भारी लत लग गयी थी। वह इसे छोड़ना चाहता था, पर वह लत उसे नहीं छोड़ती थी। उसने अपने एक मित्रसे सलाह पूछी। मित्र मनोवैज्ञानिक थे। उन्होंने उस समय कोई सलाह नहीं दी। किसी प्रकारकी कमजोरीकी अनुभूति करनेवाले व्यक्तिको उस कमजोरीके विषयमें व्याख्यान देना हानिकारक होता है। उसके मनको अपनी कमजोरीका चिन्तन करनेसे मुक्त करना ही उसे कमजोरीसे छुड़ानेका पहला उपाय है। अतएव मित्रने उसकी सिगरेटकी आदतपर कोई बातचीत नहीं की। कुछ दिनों बाद उसने

एक लड़केको उसकी अभिभावकतामें रख दिया। इस लड़केको सिगरेट पीनेकी आदत थी। मित्रने इसकी आदतके विषयमें कुछ भी चर्चा नहीं की थी। इस आदतकी खोज स्वयं अभिभावकने की। अब उसे चिन्ता लगी कि इस लड़केकी आदत इतनी कड़ी न हो जाय कि वह पीछे उसको मेरे ही समान छोड़ न सके। अतएव उसने प्रतिदिन उस बालकको सिगरेट पीनेके दुष्परिणामपर उपदेश देना प्रारम्भ किया और अपना ही उदाहरण देकर उसे समझाया कि तुम भी पीछे मेरे ही सदृश पछताओगे। इस उपदेशका बड़ा ही अच्छा प्रभाव बालकके मनपर पड़ा। उसने सिगरेट पीना छोड़ दिया। पर कुछ दिनों बाद उपदेशकने भी अपने-आपमें इतना परिवर्तन पाया कि वह न केवल अपनी एक सिगरेट पीनेकी आदतको ही छोड़ दिया, वरं अनेक दूसरी बुरी आदतोंसे भी वह मुक्त हो गया।

जब कोई व्यक्ति बालकको केवल व्याख्यान अथवा उपदेश देकर चरित्रवान् बनाना चाहता है तो वह बालकको चरित्रवान् न बनाकर और भी निर्बल इच्छाशक्तिका व्यक्ति बना देता है। नैतिक उपदेशमें बालक समझ जाता है कि उसके लिये क्या करना चाहिये। पर वह बालककी इच्छाशक्तिको मजबूत नहीं बनाता। फिर बालक भली बातको जानकर जब उसके विरुद्ध आचरण करता है तो वह आत्मग्लानिकी अनुभूति करता है। इससे उसकी इच्छाशक्ति और भी निर्बल हो जाती है। फिर वह अपने-आपको बुरे कामोंसे रोक नहीं पाता। अतएव केवल उपदेश देना बालकके चरित्रका विनाशक है। इससे अपने-आपको भी कोई लाभ नहीं होता। जब कोई व्यक्ति अभिमानरहित होकर बालकसे बात करता है और अपने-आपको उससे श्रेष्ठ सिद्ध करनेकी चेष्टा नहीं करता, तभी वह बालकका और अपना लाभ करता है।

अपनी कमीपर न तो रोना उचित है और न दूसरोंकी कमीपर हँसना। जो अपनी कमीपर रोता है, वह कमीको बढ़ाता है और जो दूसरोंकी कमीपर हँसता है वह उस कमीको अपने-आपमें ले आता है। अपनी कमीपर हँसना और दूसरोंकी कमीपर रोना—यही कमियोंके अन्त करनेका सर्वोत्तम उपाय है।

काम पर विजय

(श्रीदिलीपजी देवनानी)

शरीरको सत्य एवं सुन्दर माननेसे ही मानकी उत्पत्ति होती है, जो कि दुःखका मूल है। यदि हम शरीरकी क्षणभंगुरता और मलिनताको ठीकसे समझ लें तो काम उत्पन्न होगा ही नहीं। मनमें शान्ति रहेगी, जो कि हमें परमात्मासे अभिन्न कर देगी। कामकी उत्पत्ति हमें बेचैन कर देती है। विश्राम छीन लेती है, थका देती है। तब व्यक्ति स्वस्थ नहीं रहता, भटकता है, आनन्दशून्य हो जाता है, अभावमें जीता है, पराधीन हो जाता है। कामनाएँ उसे घसीटती हैं, उसका जीवन दुःखमें बीतता है, उसका यश खो जाता है, वह विवेक खो बैठता है।

जो व्यक्ति अपनी इस दयनीय दशासे ऊपर उठना चाहता है, उसे कुछ बाहरी साधन भी अपनाने होंगे; फिर कुछ सूक्ष्म बातोंपर भी विचार करना होगा।

पहले तो वह उन स्थानोंपर न जाय, जहाँ जानेसे उसका मन चंचल हो जाता है। मन-ही-मन भगवान्‌के नामका सुमिरन करते रहना चाहिये। सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये। अच्छी पुस्तक साथ रखनी चाहिये। यह समझकर कि व्यसनोंमें मनुष्य-जन्म नष्ट हो जाता है, दोषोंसे किनारा कर लेना चाहिये। भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि वह हमें सत्य मार्गपर स्थिर रहनेकी शक्ति दे।

गीतामें भगवान्‌ने काम, क्रोध एवं लोभ—इन तीनोंको नरकका द्वार बताया है और इन्हें त्यागनेके लिये कहा है। इनमें भी काम तो पहले नम्बरपर है। यदि बड़े पहलवान्‌को हरा दिया जाय तो छोटे पहलवानको हरानेमें कोई दिक्कत नहीं होती। काम बड़ा पहलवान है। इसलिये श्रीकृष्ण भगवान्‌को कहना पड़ा कि ज्ञान-विज्ञानका नाश करनेवाले इस पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल।

संत-वचनामृत

(वृन्दावनके गोलोकवासी सन्त पूज्य श्रीगणेशदासजी भक्तमालीके उपदेशपरक पत्रोंसे)

❀ *'उमा राम सुभाउ जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥'* शंकर भगवान् कहते हैं—'जिसने रामजीके स्वभावको जान लिया, उसे फिर रामजीका भजन ही अच्छा लगता है। भगवान्का स्वभाव है उन्हें शरणागत भक्त प्रिय हैं। श्रीरामने कहा—'हे मित्र! मेरा स्वभाव है कि कोई कितना ही पापी क्यों न हो, सब कुछका त्याग करके सभीत होकर यदि मेरी शरणमें आता है तो मैं उसे अपना लेता हूँ। उसके सभी पापोंका नाश कर देता हूँ। वह निर्भय हो जाता है। विभीषणके मनमें कुछ वासना थी कि प्रभु रामजी रावणका वध करके लंकाका राज्य मुझे दे देंगे। परंतु जब उन्होंने श्रीरामजीका दर्शन किया, उनके मनमें प्रेम उत्पन्न हो गया तो उसके प्रभावसे मनकी वासना प्रेमकी नदीमें बह गयी। अब उन्हें कुछ नहीं चाहिये, फिर भी प्रभुने उन्हें लंकाका राजा बना दिया। रावणके मरणके पूर्व ही लंकाका राज्य विभीषणको देना, यह रामजीकी वीरता, उदारताका परिचायक है। रावणके भयसे विभीषणकी रक्षा करनेमें कोई भी, ब्रह्माजी, शंकरजी भी समर्थ नहीं थे। ऐसे विभीषणको अभयदान दिया। इस स्वभावको काकभुशुण्डिजी जानते हैं, अत: वे निरन्तर भजन करते हैं। श्रीरामने कहा कि—

तुम्ह सारिखे सन्त प्रिय मोरे। धरउँ देह नहि आन निहोरे॥

❀ श्रीरंगनाथजीका पूजन करनेके लिये लंकासे विभीषणजी आ रहे थे, गाँवमें मोड़पर धक्का लगनेसे एक ब्राह्मणकी मृत्यु हो गयी। रुष्ट होकर ब्राह्मणोंने विभीषणको बहुत मारा, पर उनके शरीरपर चोट नहीं लगी, तब कोठरीमें बन्द कर दिया। श्रीरामजी पुष्पक विमानद्वारा आ गये। ब्राह्मणोंने कहा—'इसे ब्रह्महत्याका दण्ड आप दीजिये।' श्रीरामने कहा कि यह हमारा सेवक है। सेवकके अपराधपर स्वामीको दण्ड मिलना चाहिये। विभीषणको मैंने एक कल्पकी आयु दी है, उसकी मृत्यु नहीं हो सकती है। आप लोग मुझे दण्ड दीजिये। श्रीरामकी ऐसी भक्तवत्सलता देखकर ब्राह्मण लोगोंने क्षमा कर दिया और कहा कि विभीषणने जान-बूझकर हत्या नहीं की है। वृद्ध था, अत: रथके धक्केसे मर गया। प्रभो! हम आपको दण्ड क्या देंगे। आप हमको अपनी भक्ति दीजिये। विभीषण श्रीरामजीको प्रणाम करनेके लिये आये, पर प्रभुने मना कर दिया और कहा—'पहले ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त करो, उसके बाद तुम्हारा प्रणाम स्वीकार करेंगे। विभीषणजी रामजीको अत्यन्त प्रिय हैं।

❀ भगवान्की कृपा सभी जीवोंपर है। संसारी पिता-मातासे अनन्त गुना वात्सल्य भगवान्में है। एक सन्तसेवी भक्तके द्वारपर एक व्यक्ति आया और भगवान्को गाली देने लगा। उस सन्तसेवी भक्तने उसे भोजन नहीं दिया। धक्का देकर बाहर कर दिया। रातमें स्वप्नमें भगवान्ने कहा—'तुमने पहचाना नहीं। मैं जन्मसे उसका भरण-पोषण कर रहा हूँ, तुमने एक दिन भी भोजन नहीं दिया। वह आज गाली दे रहा है, कल हमारी पूजा कर सकता है, जीवोंकी बुद्धि एक-सी नहीं रहती है। उसके हृदयमें मैं उपस्थित हूँ। भक्तने क्षमा-याचना की और प्राणीमात्रके गुण-दोष देखे बिना ही सबकी सेवा करने लगा। भगवान्की कृपा सभीके ऊपर है। हम-आपपर भी प्रभुकी कृपा है। हमको उसका अनुभव करके भगवान्को धन्यवाद देना चाहिये।

❀ करुणानिधान भगवान् सदा दया करके भक्तोंका कल्याण करनेके लिये तैयार रहते हैं। अपने भक्तोंको प्रसन्न रखना—यह ईश्वरका मुख्य कार्य है। इसी प्रकार भक्तजन अपनी सभी चेष्टाओंसे, अपने सभी कर्मोंसे प्रभुको प्रसन्न करना चाहते हैं। वे प्रार्थना करते हैं कि जिस प्रकारसे आपका मन प्रसन्न रहे, वही कीजिये। ईश्वर भक्तोंको प्रसन्न करनेके लिये सृष्टि करता है, अवतार लेता है।

❀ नित्य उत्सव-महोत्सवोंसे ही मन्दिरोंकी, तीर्थोंकी शोभा होती है। कुछ लोग मनोरंजनके लिये आते हैं तो श्रीधाममें आनेपर मन्दिरोंके तीर्थोंके दर्शन होनेसे उनका भी कल्याण होता है। कई लोग दर्शन, सत्संग, रासलीलासे ऐसे प्रभावित होते हैं कि बार-बार श्रीधाम आनेका नियम बना लेते हैं, क्योंकि श्रीधाम अनेक प्रकारसे शुद्ध हृदयको आकृष्ट करता है। श्रीजी जीवोंपर सर्वदा कृपा करती हैं। श्रीधाममें जड़ भी चैतन्य हैं, क्योंकि उनमें भक्ति महारानी व्याप्त हैं। धामकी यही विशेषता है।

['परमार्थके पत्र-पुष्प'से साभार]

सन्तोषकी साधना

(श्रीपथिकजी महाराज)

सन्तोष ही परम सुख है—यह मन्त्र भूल जानेपर ही मनुष्य दुःखके शासनसे पीड़ित है। आज जो कुछ तुम्हें प्राप्त है, जो कुछ तुम्हारे सामने है, वह तभी फीका प्रतीत होता है, जब उतनेसे सन्तोष नहीं होता और तब उससे अधिककी प्राप्तिके लिये तुम्हें प्रयत्न करना पड़ता है; क्योंकि असन्तोषके कारण वर्तमानमें मिली हुई वस्तु फीकी और भविष्यकी वस्तु मधुर और सुन्दर दीख पड़ती है। संसारकी प्रत्येक वस्तु दूरसे देखनेमें जितनी पवित्र, सुन्दर और मधुर लगती है, उतनी निकटसे ग्रहण करनेमें नहीं रह जाती। सुन्दर वस्तुका उपभोग करते ही उसकी सुन्दरता नष्ट होने लगती है। जो कुछ भी जितनी मात्रामें तुम्हारे पास है, जबतक उतनेमें ही तुम्हें सन्तोष न होगा, तबतक तुम चाहे जितना अधिक-से-अधिक और अच्छा-से-अच्छा प्राप्त करते रहो, तुष्टि तथा तृप्ति नहीं हो सकती। मनके साथ लगा हुआ यह तृष्णारूपी भयानक भस्मक रोग है, जिसकी पूर्ति जितनी ही अधिकतासे करो उतनी ही उसकी बुभुक्षा बढ़ती ही जाती है। यह रोग अज्ञानताकी ही सीमामें बढ़ता और पोषित होता है। यथार्थ ज्ञानके साम्राज्यमें दूरदर्शिताके द्वारा यह रोग पहचाना जा सकता है और सन्तोषरूपी महौषधिसे ही इसकी निवृत्ति होती है। जबतक तुम इस तृष्णारूपी रोगसे ग्रस्त हो, तबतक तुम अच्छी-से-अच्छी, अधिक-से-अधिक मात्रामें प्राप्त सुन्दर वस्तुओंको अपने उपयोगमें लाकर व्यर्थ ही करते रहोगे। यह तृष्णारूपी रोग तुम्हारे अज्ञान और अदूरदर्शिताके कारण ही पीछे पड़ा है। जिस शक्तिके द्वारा तुम अज्ञान-भूमिमें अदूरदर्शी बनकर विचर रहे हो, उसी शक्तिसे तुम सद्ज्ञानके साम्राज्यमें प्रवेशकर दूरदर्शितासे इस भयानक रोगको देखो और सन्तोषके द्वारा इसे सदाके लिये मिटा दो।

जब तुम सन्तोषका सेवन करने लगोगे, तब तुम्हें उतनेसे ही तृप्ति और तुष्टि प्राप्त होगी, जितना तुम्हें सुलभतापूर्वक प्राप्त है। जो अज्ञानी और अदूरदर्शी हैं, वे ही धन और सांसारिक पदार्थोंमें सुख-शान्ति खोजते हैं और अधिक-से-अधिक प्राप्तकर लोभ, मोह, अभिमान और क्रोध आदि दुर्विकारोंसे अपने आपको प्रभावित पाते हैं। केवल सन्तोष धारण करनेवाले बुद्धिमान् पुरुष ही ऐसे हैं, जो सांसारिक पदार्थोंके लोभी, मोही और अभिमानी मनुष्योंकी दुर्दशा अच्छी तरह देख पाते हैं, इसीलिये वे दरिद्र नहीं होते हैं। अधिक-से-अधिक संचय करनेमें अपनी शक्तिका दुरुपयोग नहीं करते हैं और न भारवाही बनकर पराधीनताका बोझा ढोते चलते हैं।

जो कुछ परवश है, उसके प्रति तुम्हें सन्तोष ही करना चाहिये, परंतु जो स्ववश है, उसकी प्राप्तिके लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। स्ववश वस्तुकी प्राप्तिमें स्वाधीनता रहती है, जो तुम्हारे अधिकारमें है और तुमसे उत्पन्न हुआ है, वह स्ववश है। अपने-आपसे अतिरिक्त जो कुछ भी है, वह परवश है। शरीरादि सांसारिक पदार्थों और सम्बन्धियोंमें न तो तुम्हारा अधिकार है और न वे तुमसे उत्पन्न हुए हैं, केवल माना हुआ अधिकार या सम्बन्ध है, इसलिये इनके संयोग-वियोगमें सन्तोष रखना तुम्हारी बुद्धिमत्ता है।

सन्तोषी ही योग-मार्गमें जाता है, असन्तोषी भोग-मार्गमें घूमता रहता है। सन्तोषी समस्त सांसारिक इच्छाओंकी निवृत्तिमें स्थायी शान्ति देखता है, असन्तोषी अनेक इच्छाओंकी पूर्तिमें सुख मानता है। उसके प्रत्येक सुखका अन्त दुःखमें ही होता रहता है। सन्तोषी शान्ति पाता है, असन्तोषी सुख-दुःखके बन्धनमें विवश रहता है। सच्चा सन्तोषी समुद्रकी तरह उदार होता है, असन्तोषी सदा दरिद्र बना रहता है। सन्तोषी पुरुष संतपदको प्राप्त होता है, जब

उसके पास कुछ नहीं रह जाता, तब परम प्रभुको धन्यवाद देता है और जब उसके पास कुछ होता है तो उदारतापूर्वक अभावग्रस्त लोगोंकी सेवा करता है। सन्तोषी पुरुष आर्थिक आपत्ति आनेपर उसी तरह प्रसन्न होता है, जिस तरह भोगासक्त लोभी सम्पत्ति पाकर फूला नहीं समाता है।

जब कभी तुम्हें बहुत अधिक दुःख दीख पड़े, तब सन्तोष और धैर्य धारण करो, यह सोच लो कि ऐसा कोई भी दुःख नहीं है, जिससे अधिक दुःख न हो। जिसके अभावका ज्ञान होता है, वही उत्पत्ति और विनाशवाली वस्तु है, चिन्मात्रस्वरूप आत्माके अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुका अभाव-ज्ञान होता है। इसलिये अपनेसे भिन्न सभी अभाव और विनाशकी वस्तु हैं। जो स्वात्मामें सन्तुष्ट है, वही योगानुभवमें सन्तोष और इच्छा-निवृत्तिका दर्शन करता है।

तुम नित्य एकरस आनन्दस्वरूप चित्-सत्ताको जानो, उसके अनन्त ऐश्वर्य और माधुर्यका सर्वत्र अनुभव करो। तुम्हें कहीं भी असन्तोष न होगा। यह भी ध्यान रखो कि परमार्थके पथमें चलते हुए धर्मपालन, साधन और संयममें कभी सन्तोष न करो। आराध्य प्रभुके स्मरण-चिन्तन और ध्यानमें सन्तोषकर प्रपंचमें न उलझे रहो, अपितु सांसारिक लाभ और सुख-भोगमें सन्तोष करो, ऐसा करनेसे परमार्थ-पथमें—शान्ति-लाभमें सफल हो सकोगे।

सन्तवाणी

(महात्मा जयगौरीशंकर सीतारामजी)

१- दुष्ट और बुरे मनुष्योंका स्मरण और उनकी चर्चा करनेसे मन मलिन हो जाता है, पाप-वासनाएँ बढ़ जाती हैं और बहुत-सी बुराइयाँ उत्पन्न होने लगती हैं।

२- जहाँ अन्धकार-ही-अन्धकार है, वहाँ प्रकाश कैसे मिल सकता है। जिस मनुष्यमें स्वयं ज्ञान-भक्ति नहीं है, वह तुमको ज्ञान-भक्ति कहाँसे और कैसे दे सकता है। सच्चे सन्त-महात्माका सत्संग करो, तभी तुम्हारा अन्धकार दूर होगा।

३- जगत्की सारी वस्तुएँ प्रकृतिसे बनी हैं, बराबर बदलती रहती हैं, उत्पत्ति और विनाशके प्रवाहमें बहती रहती हैं। एक अवस्थामें सदैव रहनेवाली नहीं हैं, फिर उनपर एकाग्रता कैसे सम्भव है? प्रकृतिके इस रहस्यको समझनेकी कोशिश कीजिये।

४- राम-नाम जपनेसे हृदयमें सद्गुण आते हैं, दिव्य भावना उत्पन्न होती है, विचार और स्वभाव निर्मल होते हैं, ज्ञान-नेत्र खुल जाते हैं, शान्ति, प्रसन्नता और प्रेमकी लहरें उठने लगती हैं। पाप-संस्कारोंके बीज, जो जन्मान्तरसे अन्तरके कोठारमें भरे पड़े रहते हैं, सब दग्ध हो जाते हैं।

५- भक्तोंके हृदयमें अहर्निश राम-नाम रहता है, उनके जीवनका सहारा केवल राम-नाम ही है।

६- भक्तोंके हृदयमें सदैव ईश्वरका वास रहता है, उनके लिये कोई चीज दुर्लभ नहीं है। सांसारिक मनुष्य उनको नहीं समझ पाते, इसीलिये उनका अपमान करते हैं और दूर भागते हैं।

७- भक्तकी रक्षा भगवान् माताके समान करते हैं। संसारमें कोई भी भक्तका अपमान करके कुशलसे नहीं रह सकता।

जो अपमान भगत कर करई। राम रोष पावक महँ जरई॥

८- भक्तका संग करनेसे कई जन्मोंका पाप दूर होता है। भक्तोंका दर्शन अमोघ है, भक्तोंका उपदेश अनमोल और अनुपम है। अवश्य ही यह सब बातें असली भक्तके लिये हैं, बनावटीके लिये नहीं।

तीर्थ-दर्शन—

केरलका प्रसिद्ध तीर्थ—श्रीगुरुवायूर

(श्रीम० क० कृष्णजी अय्यर)
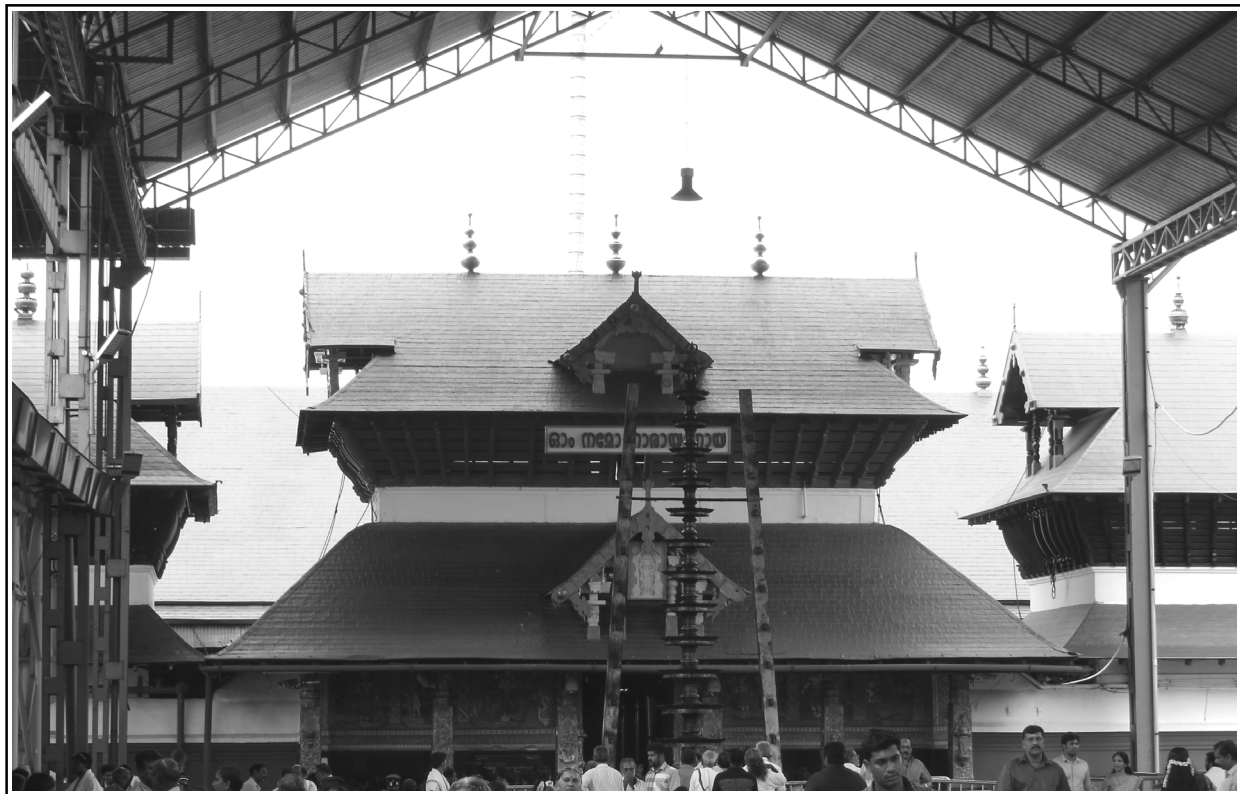
गुरुवायूर त्रिचूर रेलवे-स्टेशनसे ३२ कि०मी० दूर पड़ता है तथा मोटर-बसद्वारा वहाँ जाया जाता है। यहाँ भगवान् श्रीगुरुवायूरप्पाका मन्दिर है, यह वहाँके अनेक परिवारोंके कुलदेवता हैं।

संक्षिप्त इतिहास

भगवान् श्रीकृष्णने अपने परम मित्र उद्धवको एक बार देवगुरु बृहस्पतिके पास एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संदेश देकर भेजा। संदेश यह था कि समुद्र द्वारकाको डुबा दे, इससे पूर्व ही वह मूर्ति जिसकी श्रीकृष्णके पिता वसुदेव और माता देवकी पूजा किया करते थे, किसी सुरक्षित और पवित्र स्थानमें प्रतिष्ठित हो जाय। भगवान्ने उद्धवको समझाया कि यह मूर्ति कोई साधारण प्रतिमा नहीं है, कलियुगके आनेपर वह उनके भक्तोंके लिये अत्यन्त कल्याणदायक और वरदानरूप सिद्ध होगी। संवाद पाकर देवगुरु बृहस्पति द्वारका गये, किन्तु उस समयतक द्वारका समुद्रमें लीन हो चुकी थी। उन्होंने अपने शिष्य वायुकी सहायतासे उस मूर्तिको समुद्रमेंसे निकाला। तत्पश्चात् वे मूर्तिकी प्रतिष्ठाके लिये उपयुक्त स्थान खोजते हुए इधर-उधर घूमने लगे। वर्तमानमें जहाँ यह मूर्ति प्रतिष्ठित है, वहाँ उस समय सुन्दर कमलपुष्पोंसे युक्त एक झील थी, जिसके तटपर परमेश्वर भगवान् शिव और माता पार्वती जलक्रीड़ा करते हुए इस अत्यन्त पवित्र मूर्तिकी प्रतीक्षा कर रहे थे। बृहस्पतिजी वहाँ पहुँचे और भगवान् शिवकी आज्ञासे उन्होंने और वायुदेवने इस मूर्तिकी उचित स्थानमें प्रतिष्ठा की। तभीसे इस स्थानका नाम गुरुवायूर हो गया।

इस स्थानके पास ही ममीयूर नामक स्थानपर भगवान् शिवका मन्दिर है। कहते हैं, स्वयं धर्मराजने इस मन्दिरकी प्रतिष्ठा की थी। ममीयूरमें भगवान् शिव ममीयूरप्पन नामसे प्रख्यात हैं। कहते हैं, इन्होंने ही गुरु वायूरप्पन्की प्रतिष्ठा की थी।

मन्दिरका मूलतः निर्माण देवताओं और विश्वकर्माका किया हुआ है, इसीलिये कला अत्यन्त उत्कृष्ट और मानवोत्तर कौशलयुक्त है।

पाँच सौ वर्ष पूर्व पाण्ड्यदेशके राजाको किसी ज्योतिषीने कहा कि वह बतलायी हुई निश्चित तिथिपर सर्प-दंशसे मर जायगा। राजाने यह सुनकर तीर्थयात्रा प्रारम्भ की तथा वह गुरुवायूर पहुँचा। इस समय मन्दिर अत्यन्त ध्वस्त अवस्थामें था। राजाने उसके पुनर्निर्माणका आदेश दिया और मन्दिर-निर्माणके पूर्व ही वह राजधानीको चला आया। इधर जब निश्चित तिथि बीत गयी और राजाकी मृत्यु नहीं हुई, तब राजाने ज्योतिषीको बुलाया तथा झूठी बात कहनेका कारण पूछा। ज्योतिषीने कहा—'महाराज! आपकी मृत्युके ठीक समय आप एक अत्यन्त पवित्र मन्दिरकी पुनर्निर्माण-योजनामें व्यस्त थे, उस समय आपको सर्पने काटा भी था; किन्तु कार्यमें अत्यन्त एकाग्र होनेके कारण आपको ज्ञात नहीं हो सका। देखिये, यह सर्पके काटे जानेका घाव है। यह तो जिनके मन्दिरका आप निर्माण करा रहे थे, उनकी अपूर्व कृपाका फल है कि आप मृत्युसे बच गये। अब आपको पुनः वहीं जाना चाहिये।'

इसके पश्चात् मन्दिरमें कई बार कुछ सुधार और परिवर्तन कतिपय स्थानीय भक्तोंने किये।

मूर्तिका इतिहास

सर्वप्रथम भगवान् विष्णुने अपनी साक्षात् मूर्ति ब्रह्माको उस समय प्रदान की, जब वे सृष्टि-कार्यमें संलग्न हुए। जब ब्रह्मा सृष्टि-निर्माण कर चुके, उस समय स्वायम्भुव-मन्वन्तरमें प्रजापति सुतपा और उनकी पत्नी पृश्निने उत्तम पुत्र-प्राप्तिके लिये ब्रह्माकी आराधना की। ब्रह्माने उन्हें यह मूर्ति प्रदान की तथा उन्हें उपासना करनेका आदेश दिया। बहुत कालकी आराधनाके पश्चात् भगवान् प्रकट हुए तथा उन्हें स्वयं पुत्ररूपमें उनके गर्भसे जन्म लेनेका वचन देकर अन्तर्धान हो गये। तत्पश्चात् भगवान् पृश्निगर्भके रूपमें अवतरित हुए। दूसरे जन्ममें सुतपा कश्यप बने और पृश्नि अदिति। उस समय भगवान्ने वामनरूपमें अवतार लिया। तीसरे जन्ममें सुतपा वसुदेव बने और पृश्नि देवकी बनी, तब भी भगवान्ने श्रीकृष्णरूपमें इनकी कोखसे जन्म लिया। यह मूर्ति वसुदेवको धौम्य ऋषिने दी थी तथा उन्होंने इसे द्वारकामें प्रतिष्ठित कराके इसकी पूजा की थी।

सर्पयज्ञके पश्चात् जनमेजयको गलित कुष्ठ हो गया, तब उन्होंने इन्हीं भगवान्की आराधना की तथा भगवान्की कृपासे रोगके साथ-ही-साथ भव-रोगसे मुक्ति पायी।

श्रीआद्यशंकराचार्य इस मन्दिरमें कुछ काल रुके थे। उन्होंने यहाँकी पूजा-पद्धतिमें कुछ संशोधन किये थे। अबतक पूजा उस संशोधित विधिसे ही होती है।

श्रीलीलाशुक (बिल्वमङ्गल)-ने अपने आराधना-कालका बहुत-सा समय यहाँ व्यतीत किया था। कहते हैं उनके साथ भगवान् बालरूप धारण करके क्रीड़ा करते थे। और भी अनेक सुप्रसिद्ध संतों एवं भक्तोंका सम्बन्ध यहाँसे रहा है।

सींग-लगे नारियल

एक किसानने नारियलकी खेती की। पहली फसलके कुछ नारियलोंको लेकर वह भगवान् गुरु वायूरप्पन्को चढ़ाने चला। मार्गमें वह एक डाकूके चंगुलमें फँस गया। उसने डाकूसे प्रार्थना की कि वह और सब कुछ ले ले, पर भगवान्के निमित्त लाये हुए नारियलोंको अलग रहने दे। इसपर डाकूने ताना मारते हुए कहा—'क्या गुरुवायूरप्पन्के नारियलोंमें सींग लगे हैं।' डाकूका इतना कहना था कि सचमुच उन नारियलोंपर सींग उग आये। डाकू इस चमत्कारको देखकर घबराकर चुपचाप चला गया। ये सींग-लगे नारियल अद्यावधि मन्दिरमें हैं।

संत-चरित—

कर्नाटकके वैष्णव सन्त श्रीकनकदास

(श्रीरामलालजी श्रीवास्तव)
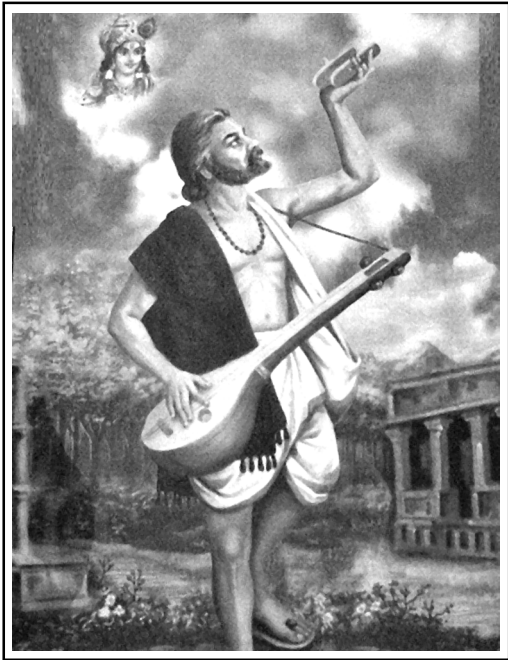
सन्तके परम पवित्र चरितामृतका रसास्वादन उन प्राणियोंके लिये परम सौभाग्यका विषय है, जिनकी जीवन-विधि—रहनी भगवद्भक्तिकी मधुरिमासे सम्पूर्णत: सम्प्लावित रहती है, जिनकी रसमयी वाणीमें सत्यके प्रति प्रीति या अनुरक्तिकी मन्दाकिनी प्रवाहित रहती है, जिनके प्राणोंमें, चित्तवृत्तियोंके तार-तारमें अध्यात्म-माधुर्यका दिव्य संगीत झंकृत होता रहता है।

सन्त भगवद्भक्ति और भगवद्रूप-माधुर्यके वितरणसे लोक-जीवनको कृतार्थ किया करते हैं, ऐसे ही सन्त थे कर्णाटक प्रदेशको अपनी पवित्र उपस्थितिसे गौरवान्वित करनेवाले पुरन्दरदास, कनकदास, विट्ठलदास, वेंकटदास, विजयदास तथा कृष्णदास आदि। इन सन्तोंने कन्नड़-साहित्यको वैष्णव धर्मके रससे आप्लावित किया। पण्ढरपुरके विट्ठलकी, तिरुपतिके भगवान् वेंकटेशकी और उडूपिके कृष्णकी भक्ति-मन्दाकिनी प्रवाहितकर 'हरिदास-पन्थ' अथवा 'दासकूट'की स्थापना की। दासकूटके कारण ही कर्णाटकका वैष्णव साहित्य अक्षुण्ण है। सन्त कनकदासने कर्णाटकमें निर्मल हरिभक्तिका प्रचार किया। उन्हें महाभारतका विदुर कहा जाता है। सोलहवीं शताब्दीके महान् वैष्णव सन्तोंमें उनकी गणना होती है। विजयनगर साम्राज्यके कुलगुरु लब्धप्रतिष्ठ सन्त और अध्यात्ममर्मज्ञ महामति व्यासरायसे गुरुदीक्षा प्राप्तकर सन्त पुरन्दरदास और कनकदासने तत्कालीन वैष्णव-जीवनका जो निर्मल निष्पक्ष आदर्श प्रस्तुत किया, उससे कन्नड ही नहीं, समस्त भारतीय वैष्णव-साहित्य अथवा भक्ति-साहित्यकी समृद्धि-वृद्धिमें उनका विशिष्ट योगदान स्वीकार किया जा सकता है। गुरु व्यासराय उच्चकोटिके विद्वान् और महान् दार्शनिक थे। उन्होंने कन्नड़भाषामें अनेक सरस पदोंकी रचना की। गुरुके चरणचिह्नोंका अनुसरणकर सन्त पुरन्दरदासने कर्णाटक संगीतकी श्रीवृद्धि की तथा कनकदासने अपने भक्तिपूर्ण आचरण, दार्शनिक सिद्धान्त और सरस वाणीसे कन्नड़-साहित्यमें नवजागरणका प्रभात प्रस्तुत किया। सन्त कनकदासके गुरु माध्वमतके आचार्य थे, इसलिये कनकदासका जीवन माध्व-सम्प्रदायकी भक्ति-पद्धति—दास्यभक्तिसे सर्वथा सम्पन्न था। हरिदास-पन्थपर चलनेवाले कनकदासके जीवनसे यह सिद्ध होता है कि समस्त प्राणी भगवद्भक्तिके अधिकारी हैं। बाह्याडम्बर और बाह्याचार—दोनोंसे उदासीन अथवा तटस्थ रहकर अन्तकरणकी पवित्रता और भगवान्‌की भक्तिके अर्जनपर ही विशेष बल देनेसे मानव-जीवन कृतार्थ होता है। हरिदास-पन्थका प्राण सदाचार है।

कर्णाटक प्रदेशके भक्ति-आन्दोलनकी प्रगतिमें महामति व्यासतीर्थ अथवा व्यासराय और उनके प्रमुख शिष्य सन्त कनकदास और पुरन्दरदासने अप्रतिम योगदान देकर श्रीमध्वाचार्यद्वारा प्रवर्तित द्वैतसिद्धान्तपरक वैष्णव धर्मका बड़ी तत्परतासे संरक्षण किया। सन्त कनकदासके वैष्णव धर्माचरणमें आचार्य रामानुजके प्रति भी उनकी निष्ठाका पता चलता है। उन्होंने आचार्य रामानुजकी भी स्तुति की है। वे सन्त पुरन्दरदासके भी महान् प्रशंसक थे। यद्यपि हरिदास पन्थ और दास-साहित्यके समुन्नयनमें सन्त कनकदास और पुरन्दरदासका असाधारण सहयोग माना गया है, तथापि उनसे ६०० साल पहले प्राय: नौवीं शताब्दीमें ही श्रीअचलानन्ददासने दास-साहित्यकी सृष्टि की थी और तत्पश्चात् श्रीनरहरितीर्थ तथा पन्द्रहवीं-

सोलहवीं शताब्दीमें श्रीपादराय एवं व्यासराय आदिने दास-साहित्यका विशेषरूपसे पोषण किया। सन्त कनकदास और पुरन्दरदास आदि हरिदासोंने कलियुगमें श्रीभगवन्नाम-स्मरणको अत्यधिक महत्त्व दिया। सन्त कनकदासकी रचनाओंमें भगवन्नामानुराग, भगवद्भक्ति और वैराग्यके उत्कर्षका बड़ा सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। निस्सन्देह वे कन्नड़ भक्ति-साहित्यकी अप्रतिम विभूति थे।

सन्त कनकदासका समय १५०८ ई०से १६०६ ई० तक निश्चित किया गया है। उन्होंने १५०८ ई०के अक्टूबर मासमें एक महार—गड़ेरियेके घरमें कर्णाटक प्रदेशके धारवाड़ जनपदके बाँकपुर मण्डलके बाड़ गाँवमें जन्म लिया था। उनके पिता वीरनायक और माता वाच्छम्मा तिरुपतिके भगवान् श्रीनिवासकी भक्तिमें दत्तचित्त थे। दम्पतीकी हार्दिक प्रार्थनाके फलस्वरूप भगवान् श्रीनिवासकी प्रसन्नता और कृपाके सजीव प्रतीक सन्त कनकदासने कलियुगके कोटि-कोटि प्राणियोंके उद्धारके लिये पृथ्वीपर जन्म लिया। दम्पतीने नवजातका नाम थिमप्पा रखा। थिमप्पाका मन पढ़ने-लिखनेकी अपेक्षा साहस तथा वीरताके कामोंमें अधिक लगता था। वे बचपनमें भी अपने-आपको एक दिव्य भागवती शक्तिसे अनुप्राणित अनुभव करते थे। बीस सालकी अवस्थामें उनका विवाह कर दिया गया। थोड़े ही समयमें उनके माता-पिता तथा स्त्रीने परलोककी यात्रा की। थिमप्पाके जीवनमें वैराग्यकी शक्ति और भगवान्‌की निर्मल-निष्काम भक्ति बढ़ने लगी, उन्हें संसारकी असारताका पता चल गया था। मन भगवच्चरणोंमें आत्मसमर्पणके लिये पूर्ण समुत्सुक हो उठा। उन्होंने अपने ही गाँव—बाड़में प्रतिष्ठित भगवान् आदिकेशवके प्रति बड़ी भक्ति की। उनके मनको श्रीआदिकेशवने अपने अनुरागमें पूर्णरूपसे रँग दिया। इसके बाद धारवाड़ जनपदमें स्थित कागिनेल गाँवमें श्रीआदिकेशवके मन्दिरके पवित्र वातावरणमें सन्त कनकदासने अपना समय सार्थक किया। उन्हें कागिनेलमें ही श्रीआदिकेशवने दर्शन देकर कृतार्थ किया। वे भगवदनुग्रहसे सम्पन्न हो उठे। उन्होंने भगवान् आदिकेशवके चरणदेशमें आत्मसमर्पण कर दिया, उनके प्रति पूर्ण प्रपत्तिके माध्यमसे सन्त कनकदासने लोगोंको संसार-सागरसे पार उतरने तथा मुक्ति प्राप्त करनेका सन्मार्ग बताया। कागिनेलमें ही भगवान् आदिकेशवने उन्हें स्वप्नमें दर्शन देकर कहा कि मध्वाचार्यकी परम्पराके ही महान् विद्वान् और सन्त श्रीव्यासरायसे हम्पी जाकर गुरु-मन्त्रकी दीक्षा लेनी चाहिये। वे भगवान्‌के आदेशसे हम्पीके लिये चल पड़े। श्रीव्यासरायने थिमप्पाको देखते ही कहा कि तुम्हें भैंसेके मन्त्रके सिवा दूसरे मन्त्रकी क्या आवश्यकता है। उन्होंने गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य करके भैंसेके मन्त्रकी प्रार्थना की। तत्काल ही एक अलौकिक भैंसा प्रकट हो गया। श्रीव्यासरायने कहा कि 'एक पुराने पाषाणखण्डके कारण सिंचाईकी नालीसे पानी ठीक तरहसे नहीं निकल पाता है; पत्थर जलके प्रवाहको रोक लेता है। लोगोंने इसे हटाने तथा तोड़नेका अथक प्रयास किया, पर वे निष्फल रहे।' भैंसेने तत्काल ही पाषाणखण्ड तोड़कर चूर-चूर कर दिया और वह देखते-ही-देखते क्षणमात्रमें अदृश्य हो गया। श्रीव्यासरायकी परीक्षामें थिमप्पाने आगमें सोनेकी तरह शुद्ध होनेकी सफलता पायी। श्रीव्यासरायने थिमप्पाको अपना शिष्य बना लिया, गुरुमन्त्र प्रदानकर कनकदास नाम रखा। कनकदास नामका आशय यह था कि वे आगमें तपाये गये सोनेकी तरह शुद्ध दास—शिष्य थे। उन्होंने गुरुके आदेशसे बेलुर, तिरुपति तथा उडूपि आदि पवित्र तीर्थस्थानोंकी यात्रा की।

भगवान्‌के द्वारा भक्तके यशको बढ़ानेका ढंग विचित्र तथा अमित रहस्यपूर्ण होता है। तिरुपतिके आराध्य देवताने स्वप्नमें मन्दिरके महन्तको बताया कि 'कनकदास नामके एक महात्मा दर्शनके लिये पधार रहे हैं, उनके स्वागत-सत्कारमें किसी भी प्रकारकी कमी न रखी जाय।' बड़ी श्रद्धा और तत्परतासे भगवान्‌के आदेशका पालन किया गया। सन्त कनकदास किसी स्थानविशेषमें अधिक देरतक नहीं ठहरते थे, वे तो तीर्थयात्री मात्र थे। एक स्थानसे दूसरे स्थानपर घूम-घूमकर भगवद्दर्शनका आनन्द प्राप्त किया करते थे। वे तिरुपति-मन्दिरमें भगवान्‌का दर्शन करने एक अपरिचित साधारण व्यक्तिकी तरह आये और चले गये। उनके आने-जानेपर किसीने भी ध्यान नहीं दिया। वे यात्राके श्रमसे बहुत थके थे, शरीरमें बड़ी शिथिलता थी। मन्दिरके ही एक पुजारीने उन्हें भगवान्‌का प्रसाद दिया। प्रसाद ग्रहण करनेके बाद वे सड़कके बगलमें एक स्थानपर सो गये। प्रात:काल मन्दिरका पट खुलनेपर देखा गया कि भगवान्‌के श्रीविग्रहपर शोभित रत्नजटित अलंकार परिधान नहीं है। लोग इस असाधारण घटनासे आश्चर्यमें पड़ गये। परिधानके चोरकी

खोज होने लगी। सड़कपर कनकदास निद्राभिभूत पड़े थे। उनका शरीर प्रभुके अलंकार-परिधानसे शोभित था। उन्हें सोतेसे जगाया गया। वे महन्तके सामने उपस्थित किये गये। उन्हें डाकू समझा गया। उनकी पीठपर कोड़ेकी मार पड़ने लगी। उन्होंने आहतक नहीं की, नयनोंमें एक अश्रुकण भी न आ सका। प्रभुके विधानके अनुसार जो कुछ भी हो रहा था, उससे उन्होंने मनमें तनिक भी विरोधका भाव नहीं आने दिया। उन्होंने मार सह ली। लीलामयकी लीलाका पता साधारण जीवको नहीं लगने पाता। यद्यपि तिरुपतिके भगवान् भक्तकी यशोवृद्धिकी लीला कर रहे थे, तथापि भक्तकी पीठपर कोड़े बरसते देखकर उनकी लीलामें क्षोभ उत्पन्न हो उठा। कोड़ेकी प्रत्येक मारका चिह्न भगवद्विग्रहपर अंकित देखा गया। प्रभुने कोड़ेकी मार अपनी पीठपर झेल ली। महन्तको अपनी उद्दण्ड भूलपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने भक्त और भगवान्से क्षमा-याचना की। कितनी कृपा थी तिरुपतिके आराध्य प्रभुकी कनकदासपर!

हरिदास अथवा दासकूट-सन्तकी परम्परामें 'कनकनकिन्दी' अथवा 'कनकदासकी खिड़की' की असाधारण घटना चिरस्मरणीय है। वे गुरुकी आज्ञासे अपनी साम्प्रदायिक निष्ठाकी सन्तुष्टिके लिये उडूपि गये। उडूपि मध्व-सम्प्रदायका गढ़ स्वीकार किया गया है। उडूपिके मन्दिरमें भगवान् श्रीकृष्णकी प्रतिष्ठित प्रतिमाका दर्शन तत्कालीन दृष्टिकोणके अनुरूप सामनेके प्रमुख द्वारमें प्रवेशकर प्राप्त करना महार होनेके नाते उनके लिये निषिद्ध था। सन्त और भगवद्भक्तका सबसे बड़ा सद्गुण यह होता है कि वे राग-द्वेषसे नितान्त परे होकर अपने सत्स्वरूपके परिशीलन और भगवान्के भजनमें तत्पर रहते हैं। सन्त कनकदास तो अपने परमाराध्यका दर्शन करना चाहते थे। वे मन्दिरके पीछे जाकर बड़ी तन्मयतासे भगवान्का भजन करने लगे। वे प्रभु-दर्शनके लिये विकल हो उठे। इधर भगवान् भी भक्तकी कामना-पूर्तिके लिये ही नहीं, (सन्त कनकदासके) दर्शनके लिये भी आकुल हो उठे। दोनों ओरसे एक-दूसरेको देखनेकी व्याकुलता असह्य हो उठी। संसारका कृत्रिम आवरण शिथिल पड़ गया। पीछे मन्दिरकी दीवारमें दरार फूट पड़ी। उस दरारसे प्रभुका कनकदासने प्रत्यक्ष दर्शन किया; इतना ही नहीं, भक्तको कृतार्थ करनेके लिये पूर्व-अभिमुख प्रभु श्रीकृष्णके श्रीविग्रहका मुख पश्चिमकी ओर हो गया। मन्दिरके प्रमुख यति तथा असंख्य भक्तों और सन्त-महात्माओंने महात्मा कनकदासका दर्शन कर महान् आनन्द प्राप्त किया। उपर्युक्त दरार—सुराख श्रीभगवदनुग्रहके रूपमें अब भी सुरक्षित है। उडूपिमें पधारनेवाले सैकड़ों तीर्थयात्री इस 'कनकनकिन्दी'के दर्शनसे अपना जीवन धन्य करते रहते हैं।

मध्व-मतमें परमात्माको ही एकमात्र प्रभु स्वीकार किया गया है। वे सम्पूर्ण प्रभु स्वाधीन अथवा स्वामी हैं, जीवात्मा उनका सहज स्वाभाविक दास है। सन्त कनकदासने उपर्युक्त मध्व-विचारदर्शनके अनुरूप अपने जीवनको भगवद्भक्तिसे सम्पन्नकर असंख्य लोगोंको सर्वव्यापक परमात्माके भजनमें लगाया। उनका परमात्म-सम्बन्धी दृष्टिकोण बड़ा व्यापक था। उनकी साधनाके क्षेत्रमें परमात्मा सगुण-निर्गुण तत्त्वके अभिन्न स्वरूप थे। मध्व-मत सन्त कनकदास और पुरन्दरदासके लिये जलके समान था, वे दोनों उसके मीन थे। सन्त कनकदासकी वाणीमें मध्व-मतके सिद्धान्तके प्रति प्रगाढ़ निष्ठाका भावांकन मिलता है। कनकदासकी वाणीके मर्मके अनुशीलनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'सम्पूर्ण विश्वमें ईश्वरत्व और दासत्व—ये ही दो भाव प्रमुख हैं। भगवान् जगदीश्वर हैं और उनसे शेष—सब कुछ उनका दास है। जो प्राणी भगवान्को अपना प्रभु और अपने-आपको उनका दास मानकर उनकी महिमाका गान करते हुए उनके आज्ञानुसार जीवनका निर्वाह करता है, वही श्रेष्ठ है तथा वही कृतार्थ भक्त है और उसका ही जीवन सार्थक है।' सन्त कनकदास निश्शेष भगवच्छरणागतिमें अटल आस्था रखते थे और भगवान्की अहैतुकी कृपाको अपना अखण्ड प्राणधन स्वीकार करते थे। इस तरह उनका सम्पूर्ण जीवन निर्भय, सुख-शान्तिमय तथा निश्चिन्त था। एक स्थलपर भगवत्कृपा-प्रकाशके विवेचनमें उनकी वाणी कहती है—

'मेरे मन! शान्तिमें स्थित रहो, अशान्त मत बनो। इस बातमें रंचमात्र भी सन्देह मत करो कि परमात्मा समभावसे सबकी सँभाल करते रहते हैं। देखो! पहाड़की चोटीपर अंकुरित होनेवाले पादपोंको किसने पानी देकर सींचा और किस मालीने पानीको संचित करनेके लिये उनकी क्यारियाँ बनायीं? परमात्माने ही हमारा सृजन किया है तथा

वे ही हमारे भरण-पोषणके उत्तरदायित्वका निर्वाह करते हैं। इस तथ्यमें सन्देह मत करो, निस्सन्देह वे ही हमारी देखभाल करेंगे। ठीक समयपर जंगलके अनेक जानवरों तथा आकाश और हवामें उड़नेवाले असंख्य पक्षियोंको भोजन कौन देता है ? जो अपने बच्चोंका पालन करती है, उस माँकी तरह भगवान् हमारे पोषणका उत्तरदायित्व वहन करते हैं। तनिक भी सन्देह मत करो, पूर्ण विश्वास रखो, परमात्मा हमारी रक्षा करेंगे। छोटे-छोटे पाषाण-खण्डोंके भीतर स्थित कुर्र-कुर्र करनेवाले मेढकको भोजन कौन प्रदान करता है ? श्रीकेशव हमारी आवश्यकताएँ जानते हैं और हमारी देखभाल तथा रक्षा करते हैं, इस बातमें तनिक भी अविश्वास मत करो।'

सन्त कनकदासकी आध्यात्मिक शिक्षा यह थी कि जीवात्माको प्रभुके चरणदेशमें दासानुदासकी तरह पवित्र अन्तःकरणसे आत्मसमर्पण कर देना चाहिये। उनकी शिक्षाका महत्तम सारतत्त्व यह है कि कर्ता एकमात्र परमात्मा हैं। 'मैं कर्ता नहीं हूँ' इसका सदा स्मरण रखना चाहिये। उनका विचार था कि सब कुछ परमात्मामें समाविष्ट है, इसलिये मनुष्यके प्रति की गयी (निष्काम) सेवा परमात्माकी ही निष्काम भक्ति अथवा सेवा है। सन्त कनकदासने कहा—'आत्मशान्ति—नित्यसुख ही साधनामय जीवनमें सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है।' उन्होंने आचारकी पवित्रतापर बड़ा बल दिया।

उन्होंने जीवनके अन्तिम दिनोंका अधिकांश बेलुरमें बिताया। बेलुरके प्रसिद्ध सन्त वैकुण्ठदासकी उन्होंने बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे सेवा की। सन्त कनकदासके दास्यभाव और विनम्रतापूर्ण जीवनसे महात्मा वैकुण्ठदास अमित प्रभावित थे। बेलुर-निवासकालमें उनकी परमात्माके प्रति बड़ी विनयपूर्ण विज्ञप्ति है—'हे देव! यह शरीर आपका ही है। यह अस्तित्व आपका ही है। सुख-दुःख आपके ही प्रसाद हैं। जिन परिस्थितियोंमें वेद-शास्त्रका श्रवण किया जाता है, वे आपकी ही देन हैं। चन्दन और कस्तूरीकी सुगन्धमें आप ही समाविष्ट हैं। स्वादिष्ट भोजनके रसास्वादकी उपलब्धि करानेवाली जिह्वामें आपकी ही शक्ति है। मायाजालमें आबद्ध करनेवाली पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ आपकी ही विभूति हैं। हे आदिकेशव! बिना आपके मनुष्यकी कोई सत्ता नहीं है।'

सन्त कनकदासने लगभग ९८ सालतक इस धराधामपर रहकर भगवद्भक्तिका प्रचार किया। कहा जाता है कि वे १६०६ ई० तक अपनी जीवनलीलामें स्थित थे। उन्होंने प्रचुर भक्तिपूर्ण पदों तथा संकीर्तनोंकी रचना की। उनकी अनुपम कृति—'हरिभक्तिसार'में उनके भगवद्भक्तिपूर्ण सिद्धान्तों, विचार-धाराओं और शरणागति-सम्बन्धी दार्शनिक दृष्टिकोणका परिचय मिलता है। उन्होंने मोहनतरंगिणी (कृष्णचरित), रामध्यानचरित्र, नृसिंहस्तव आदि रचनाओंके द्वारा महती कीर्ति और आत्मतृप्तिके पुण्यका अर्जन किया।

मध्यकालके प्रायः सभी सन्तों तथा महात्माओंने लोगोंको सार्वभौम भागवत-दृष्टि अपनानेकी ही सीख दी। उनके वचनोंसे पता चलता है कि भगवान्का भजन करनेवाले सन्त जाति आदिके संकुचित सीमा-बन्धनसे ऊपर उठकर एकमात्र प्रभुकी भक्तिको ही जीवनकी परम निधि स्वीकार करते हैं। इस तरहके दृष्टिकोणसे जातिगत मान्यताओंका खण्डन नहीं, उनसे ऊपर उठकर सर्वव्यापक हरिकी भक्तिकी श्रेयस्करताका मण्डन उपलब्ध होता है। सन्तकी वाणी मधुमयी अमृतसंजीवनी होती है। वह लोक-जीवनमें सत्कर्मका सृजन करती है। सन्त कनकदासकी एक स्थलपर बड़ी पवित्र तथा मार्मिक उक्ति है—'उच्च या साधारण कुलमें जन्म ग्रहण करनामात्र उच्चता अथवा लघुताका मापदण्ड नहीं है। कमल पंकमें उत्पन्न होता है, पर इसे हम पूजामें भगवान्को समर्पित करते हैं। दूध गायके मांसल स्तनमें रहता है, पर बड़े-बड़े उच्च कुलोंमें जन्म लेनेवाले सम्मानित व्यक्ति उसको पीते हैं। कस्तूरी मृगकी नाभिका मैल है, पर उच्चकुलाभिमानी इसका अंगरागके रूपमें अपने शरीरपर लेप करते हैं। मुझे समझाइये कि श्रीनारायण और शंकरकी क्या जाति है; आत्मा, जीवन, प्रेम और पाँचों इन्द्रियोंकी क्या जाति है ? भगवान् आदिकेशवसे चिर आत्म-सम्बन्ध स्थिर हो जानेपर जाति भगवत्सम्बन्धमें प्रतिष्ठित हो जाती है।'

सन्त कनकदासने अपने कीर्तनीय पदों और भक्तिपूर्ण उद्गारोंसे कर्णाटक प्रदेशके लोकजीवनको ही नहीं, पवित्र भारतभूमिके सर्वसाधारणको भगवान् केशवकी भक्तिसे सर्वथा सम्पन्न कर दिया। दासकूट-सन्त-परम्परामें उन्हें गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। हरिदासोंके इतिहासमें सन्त कनकदासका नाम स्वर्णाक्षरोंमें अंकित है। वे भागवत धर्म—भक्तिमार्गके पोषक थे।

व्रतोत्सव-पर्व

सं० २०७८, शक १९४३, सन् २०२१, सूर्य दक्षिणायन, वर्षा-ऋतु, श्रावण-कृष्णपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनांक	मूल, भद्रा, पंचक तथा व्रत-पर्वादि
प्रतिपदा प्रात: ६।८ बजेतक	रवि	श्रवण दिनमें १२।४७ बजेतक	२५ जुलाई	**कुम्भराशि** रात्रिमें १२।३९ बजेसे, **पंचकारम्भ** रात्रिमें १२।३९ बजे।
तृतीया रात्रिशेष ४।१७ बजेतक	सोम	धनिष्ठा ,, १२।३१ बजेतक	२६ ,,	**भद्रा** दिनमें ४।४८ बजेसे रात्रिशेष ४।१७ बजेतक, **श्रावण सोमवारव्रत।**
चतुर्थी ,, ४।६ बजेतक	मंगल	शतभिषा ,, १२।४५ बजेतक	२७ ,,	**संकष्टी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय** रात्रिमें ९।२४ बजे।
पंचमी ,, ४।२६ बजेतक	बुध	पू०भा० ,, १।२७ बजेतक	२८ ,,	**मीनराशि** प्रात: ७।१६ बजेसे।
षष्ठी ,, ५।१७ बजेतक	गुरु	उ०भा० ,, २।४१ बजेतक	२९ ,,	**भद्रा** रात्रिशेष ५।१७ बजेसे, **मूल** दिनमें २।४१ बजेसे।
सप्तमी अहोरात्र	शुक्र	रेवती ,, ४।२१ बजेतक	३० ,,	**भद्रा** सायं ५।५५ बजेतक, **मेषराशि** दिनमें ४।२१ बजेसे, **पंचक** समाप्त दिनमें ४।२१ बजे।
सप्तमी प्रात: ६।३४ बजेतक	शनि	अश्विनी सायं ६।२८ बजेतक	३१ ,,	**मूल** समाप्त सायं ६।२८ बजे।
अष्टमी दिनमें ८।१४ बजेतक	रवि	भरणी रात्रिमें ८।५२ बजेतक	१ अगस्त	**वृषराशि** रात्रिमें ३।३१ बजेसे।
नवमी ,, १०।१० बजेतक	सोम	कृत्तिका ,, ११।२९ बजेतक	२ ,,	**श्रावण सोमवारव्रत, भद्रा** रात्रिमें ११।११ बजेसे।
दशमी ,, १२।१२ बजेतक	मंगल	रोहिणी ,, २।५ बजेतक	३ ,,	**भद्रा** दिनमें १२।१२ बजेतक, **अश्लेषाका सूर्य** सायं ४।४५ बजे।
एकादशी ,, २।१० बजेतक	बुध	मृगशिरा रात्रिशेष ४।३२ बजेतक	४ ,,	**कामदा एकादशीव्रत** (सबका), **मिथुनराशि** दिनमें ३।१९ बजेसे।
द्वादशी ,, ३।५४ बजेतक	गुरु	आर्द्रा अहोरात्र	५ ,,	**प्रदोषव्रत।**
त्रयोदशी सायं ५।१८ बजेतक	शुक्र	आर्द्रा प्रात: ६।४३ बजेतक	६ ,,	**भद्रा** सायं ५।१८ बजेसे, **कर्कराशि** रात्रिमें २।१ बजेसे।
चतुर्दशी ,, ६।१४ बजेतक	शनि	पुनर्वसु दिनमें ८।२८ बजेतक	७ ,,	**भद्रा** प्रात: ५।१८ बजेतक।
अमावस्या ,, ६।४० बजेतक	रवि	पुष्य ,, ९।४६ बजेतक	८ ,,	**अमावस्या,** मूल दिनमें ९।४६ बजेसे।

सं० २०७८, शक १९४३, सन् २०२१, सूर्य दक्षिणायन, वर्षा-ऋतु, श्रावण-शुक्लपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनांक	मूल, भद्रा, पंचक तथा व्रत-पर्वादि
प्रतिपदा सायं ६।३६ बजेतक	सोम	आश्लेषा दिनमें १०।३५ बजेतक	९ अगस्त	**सिंहराशि** दिनमें १०।३५ बजेसे, **श्रावण सोमवारव्रत।**
द्वितीया ,, ६।२ बजेतक	मंगल	मघा ,, १०।५२ बजेतक	१० ,,	**धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री-जयन्ती, मूल** दिनमें १०।५२ बजेतक।
तृतीया ,, ५।० बजेतक	बुध	पू०फा० ,, १०।४२ बजेतक	११ ,,	**भद्रा** रात्रिशेष ४।१६ बजेसे, **कन्याराशि** दिनमें ४।३२ बजेसे, **हरियाली तीज।**
चतुर्थी दिनमें ३।३३ बजेतक	गुरु	उ०फा० ,, १०।५ बजेतक	१२ ,,	**भद्रा** दिनमें ३।३३ बजेतक, **वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत।**
पंचमी ,, १।४५ बजेतक	शुक्र	हस्त ,, ९।९ बजेतक	१३ ,,	**नागपंचमी, तुलाराशि** रात्रिमें ८।३१ बजेसे।
षष्ठी ,, ११।४१ बजेतक	शनि	चित्रा ,, ७।५४ बजेतक	१४ ,,	× × × ×
सप्तमी ,, ९।२३ बजेतक	रवि	स्वाती प्रात: ६।२६ बजेतक	१५ ,,	**स्वतन्त्रता दिवस, भद्रा** दिनमें ९।२३ बजेसे रात्रिमें ८।१० बजेतक, **गोस्वामी तुलसीदास-जयन्ती, वृश्चिकराशि** रात्रिमें ११।१२ बजेसे।
अष्टमी प्रात: ७।० बजेतक	सोम	अनुराधा रात्रिमें ३।८ बजेतक	१६ ,,	**श्रावण सोमवारव्रत, मूल** रात्रिमें ३।८ बजेसे।
दशमी रात्रिमें २।४ बजेतक	मंगल	ज्येष्ठा ,, १।३० बजेतक	१७ ,,	**सिंह-संक्रान्ति** दिनमें ३।३३ बजे, **धनुराशि** रात्रिमें १।३० बजेसे।
एकादशी ,, ११।४४ बजेतक	बुध	मूल ,, ११।५७ बजेतक	१८ ,,	**भद्रा** दिनमें १२।५४ बजेसे रात्रिमें ११।४४ बजेतक, **पुत्रदा एकादशीव्रत** (सबका), **मूल** समाप्त रात्रिमें ११।५७ बजे।
द्वादशी ,, ९।३५ बजेतक	गुरु	पू०षा० ,, १०।३६ बजेतक	१९ ,,	**दामोदरद्वादशी।**
त्रयोदशी ,, ७।४२ बजेतक	शुक्र	उ०षा० ,, ९।३० बजेतक	२० ,,	**मकरराशि** रात्रिशेष ४।१९ बजेसे, **प्रदोषव्रत।**
चतुर्दशी सायं ६।९ बजेतक	शनि	श्रवण ,, ८।४६ बजेतक	२१ ,,	**भद्रा** सायं ६।९ बजेसे रात्रिशेष ५।३४ बजेतक, **व्रत-पूर्णिमा।**
पूर्णिमा ,, ५।० बजेतक	रवि	धनिष्ठा ,, ८।२५ बजेतक	२२ ,,	**पूर्णिमा, रक्षाबन्धन (राखी), श्रावणी, कुम्भराशि** दिनमें ८।३६ बजेसे, **पंचकारम्भ** दिनमें ८।३६ बजे।

साधनोपयोगी पत्र

भगवान्‌का लीलाविलास

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण! आप आस्तिक-परिवारमें उत्पन्न हुए, यह सौभाग्यकी बात है। इक्कीस वर्षकी आयुतक आप पूर्ण आस्तिक रहे, ऐसा होना परिवारके अनुरूप ही था। बादमें आपकी श्रद्धा मूर्तिपूजासे हट गयी, सगुण-उपासना भी बुद्धिको नहीं रुची और निर्गुण-उपासनामें भी मन-बुद्धिका प्रवेश न हो सका। इसका प्रधान कारण है—वैसे सत्संग और स्वाध्यायका अभाव। आयु और शिक्षा बढ़नेके साथ ही विचारशक्ति भी जाग्रत् होती है; उस समय अपने भीतर जो संशय एवं वितर्कपूर्ण प्रश्न उठते हैं, उनका समाधान होना ही चाहिये। तभी श्रद्धाके लिये सुदृढ़ आधार प्राप्त होता है। आपने अपने भीतरकी इस प्यासको सत्संग और स्वाध्यायके जलसे बुझा दिया होता तो यह अशान्ति नहीं आती। इस सम्बन्धमें मेरी सम्मति यही है कि आप गीताको मनोयोगपूर्वक पढ़ें। मनन करें। सम्भव हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीतातत्त्वविवेचनी' का मनन करें, अनुशीलन करें। साथ ही किसी ज्ञानी महापुरुषकी सेवामें उपस्थित होकर अपनी शंकाओंका समाधान करायें। सत्संगसे आपकी खोयी हुई शान्ति चिरस्थायिनी होकर लौट आ सकती है। इसमें कोई बड़ी बात नहीं है।

आप यह अनुभव न करें कि मुझमें नास्तिकतापूर्ण विचार आ रहे हैं। विचारोंको उद्‌बुद्ध होने दें। शंकाएँ उठती हैं तो उठने दें। प्रश्न और जिज्ञासाका उदय होना उर्वर मस्तिष्कका लक्षण है। इससे आपका उत्साह बढ़ना चाहिये। अवसाद अथवा शैथिल्य क्यों आये?

प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक वस्तुको समझ ही ले—यह धारणा भूल हो सकती है; परंतु प्रत्येक मनुष्य अपनेको, अपने 'स्व' या आत्माको समझे—यह उसके लिये अनिवार्य है। इस ज्ञानका वह अधिकारी है। इसे समझे बिना सच्ची शान्ति कहाँ?

आपकी बुद्धि निर्गुण तत्त्वको मानती-सी दीखती है; परंतु वास्तवमें मानती-जानती कुछ नहीं। मानती-जानती होती तो निश्चय ही अपने 'स्व' में उसको असीम शक्तिका साक्षात्कार होता।

जिसमें प्रत्येक वस्तुको मानकर चला जाता है, उस सिद्धान्तसे आप सहमत नहीं, आप अनुसन्धानके द्वारा सत्यका निर्णय करना चाहते हैं—यह ठीक है; परंतु सत्यको मानना ही पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति 'मैं हूँ' इस सत्यका अनुभव करता है; अतः आत्मसत्ता सबको प्रत्यक्ष है। आत्माको मानकर चलना अनुचित नहीं। आत्मा है या नहीं? यह प्रश्न नहीं उठता। आत्मा क्या है? इस प्रश्नका समाधान अपेक्षित है। इसका समाधान होते ही सब कुछ समझमें आ जाता है। गीताने थोड़े-से शब्दोंमें ही इस प्रश्नका उत्तर दिया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

'ज्ञानेन्द्रियाँ स्थूलशरीरसे परे (श्रेष्ठ) हैं, इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि और बुद्धिसे पर 'वह' (आत्मा) है।'

इस श्लोकका मनन करें। आत्मा बुद्धिसे भी परे है। वही बुद्धिका प्रकाशक और साक्षी है। विशुद्ध आत्मा और परमात्मा एक ही तत्त्वके दो नाम हैं।

परमात्म-तत्त्व-शोधनकी चिन्ता होनी ही चाहिये। जो मनुष्य विचारवान् होकर आत्मतत्त्व या परमात्म-तत्त्वका शोध नहीं करता, उसे आत्म-हननका दोष लगता है, वह घोरतर अन्धकारमें पड़ता है।

जबतक आपका मन सगुण या निर्गुण किसी भी तत्त्वमें रमता या उसकी ओर आकृष्ट होता है, तबतक आपको अपनेमें नास्तिकताका आरोप नहीं करना चाहिये। सच्चा नास्तिक भी निर्द्वन्द्व रहता है। आपके मनमें सगुण-निर्गुण आदिके प्रश्नको लेकर जो आकुलता छा रही है, वह नास्तिकको प्रभावित नहीं कर सकती। नास्तिक जडवादी होता है। आस्तिक आत्मचैतन्यके प्रकाशका अनुभव करता है। आप नास्तिक कदापि नहीं हैं।

मनुष्य क्यों उत्पन्न होता है? इस प्रश्नको और व्यापक रूप भी दिया जा सकता है। जगत्‌के सम्पूर्ण जीव क्यों उत्पन्न होते हैं? जैसे वृक्ष और बीज अनादि हैं, वैसे ही जागतिक जीवोंके जन्म-मरणकी परम्परा भी अनादि है। बीज बोया गया, इसलिये वृक्ष उत्पन्न हुआ। उत्पन्न वृक्षमें नूतन बीज उत्पन्न हुए। उन बीजोंके कारण वृक्षके और भी अनेक जन्म हो सकते हैं। बीज जलनेपर ही वृक्षोत्पत्तिकी परम्परा रुक सकती है। इसी प्रकार कर्मबीज ही जागतिक जीवोंकी उत्पत्तिमें कारण बनते हैं। उत्पन्न हुए जीव पुनः

नूतन कर्मबीजका संचय करते हैं, जो पुनः उन्हें जन्म-मरणकी परम्परामें बाँधते हैं। ज्ञानाग्निसे, या भगवान्‌की शरणागतिसे उन बीजोंको जलाये बिना बन्धनसे छुटकारा नहीं मिलता।

मनुष्य जागतिक जीवोंमें सबसे श्रेष्ठ माना गया है। ज्ञान और कर्मके जो प्रकृष्ट साधन मनुष्यको प्राप्त हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। अतः मनुष्य क्यों उत्पन्न हुआ? इस प्रश्नका महत्त्व भी बढ़ जाता है। कर्मफल-भोगोंके साथ ही सत्कर्म, भगवद्भजन अथवा तत्त्वज्ञानद्वारा भगवत्प्राप्ति किंवा मुक्तिलाभ करना ही मानव-जन्मका महान् उद्देश्य है। इस उद्देश्यको साधनेके लिये ही मनुष्य उत्पन्न हुआ है। मानव-शरीर मोक्षका द्वार है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

आगे कहते हैं—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

इसलिये मानव-जीवनका लक्ष्य है—आत्माको जानना अथवा परमात्माको प्राप्त करना। ज्ञान और भक्ति—ये ही इस लक्ष्यके परम साधन हैं। उपासनासे तत्त्व-ज्ञान और भगवत्तत्त्वकी प्राप्ति दोनों सध जाते हैं। अतः यही सबके लिये सहज और सुगम साधन है। मनुष्य अपना जीवन कैसे बिताये? इसका उत्तर गीता (१६। २४)में इस प्रकार है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

क्या करना, क्या न करना—यह शास्त्र बताते हैं। शास्त्रकी आज्ञा—'असत्य तथा असत्-कर्मोंसे दूर रहो। सत्य और सदाचारका पालन करो।' शास्त्रके इन विधि-निषेधोंका पालन करते हुए मनुष्य भगवत्परायण रहे। भगवान्‌को याद रखते हुए भगवत्प्रीत्यर्थ प्रत्येक कार्य करे—

'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।'

इस प्रकारका शास्त्रीय कार्यमात्र भगवत्पूजा है।

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।'

'अपने कर्मके द्वारा उस भगवान्‌को पूजकर मनुष्य सिद्धि—भगवत्प्राप्ति लाभ करता है।' पर कर्म होना चाहिये शास्त्रीय। शास्त्रविपरीत आचरण करनेसे सिद्धि, सुख तथा परम गति, सभी दुर्लभ हैं—'**न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥**'

पता नहीं, मानवके आदिम कालका यह अद्भुत इतिहास आपने कहाँ पढ़ा है, जिसके अनुसार सशक्त मानवकी विजय और अशक्तके शोषणसे पूर्ण ही प्राचीन युगका इतिहास लक्षित हुआ। मानवकी मनमानी, दूसरोंका रक्त शोषण करके शक्ति और वैभवके खेलमें आसुरी आनन्द लेना, स्वर्गको नरक बनाना—यह सब तो आधुनिक युगकी देन है। प्राचीन सिद्धान्तके अनुसार तो परस्पर सहयोग ही परम कल्याणकर समझा जाता था—

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।

भगवती श्रुति (ऋक्० १०।१९१।२) भी इसी पारस्परिक प्रेम और सहयोगका सन्देश देती हैं—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्॥

आज तो प्रजा भी एक दूसरेको नोच-खसोटकर अपना पेट भरना चाहती है, परंतु प्राचीन कालमें राजा भी प्रजाकी इच्छाका दास था। प्रजाके संकेतसे राजा अपना राज्य, अपना देश, अपना प्राण तथा अपनी प्राणप्यारी धर्मपत्नीका भी त्याग कर सकता था। भगवान् श्रीराम और उनका रामराज्य इसका आदर्श है।

आजकल आसुरी प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं। ऐटम बम और हाइड्रोजन बमका निर्माण इसीके परिणाम हैं। प्राचीन कालमें भी पाशुपत और नारायण-जैसे संहारक अस्त्र थे, पर उनका प्रयोग निरीह जनताके वधके लिये नहीं होता था। उन अस्त्रोंके साथ यह मर्यादा थी कि निरीह, निरपराधपर इनका प्रयोग न हो; अन्यथा परिणाम विपरीत होगा। वर्तमान कालके इन भयानक आसुरी बमोंसे तथा आसुरी मानवोंसे बचनेका एक ही उपाय है—'शंख-चक्र-गदा-पद्मधर असुर-संहारक विश्वप्रतिपालक भगवान् विष्णुकी ही अनन्य शरण ली जाय।'

जब दैवी वृत्तिके लोग देवको भूलकर अहंकारके वशीभूत हो प्रमाद करने लगते हैं, तब उसकी प्रतिक्रियामें आसुरी शक्तियाँ सिर उठाती हैं। यह सब भगवान्‌का ही एक खेल है। फिर असुरोंके अत्याचारसे तभी छुटकारा मिलता है, जब उनका भी दमन हो। यह सब भी भगवान्‌की लोकहितकारिणी लीलाका ही विलास है।

प्रभु मंगलमय हैं, वे सबका मंगल ही करते हैं—इस विश्वासके साथ उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिये।

शेष भगवत्कृपा।

कृपानुभूति

जींणमाताकी कृपा

हम बिलासपुर छत्तीसगढ़के निवासी हैं। हम पति-पत्नी २१ जनवरी २०१४ ई०को राजस्थानकी यात्रामें जयपुर गये थे। यात्राके दौरान हमने जींणमाता, खाटूश्याम और सालासर हनुमान्‌जीके दर्शन-पूजन किये थे। जींणमाताके दर्शन पाकर हममें विशेष श्रद्धा जाग्रत् हो गयी। वापस आनेपर इसकी चर्चा हमने अपने रिश्तेदारोंसे की। उन सबने जींणमाताके दर्शन करनेकी तीव्र इच्छा प्रकट की। उनके अनुरोधपर परिवारके सदस्योंके साथ हम पुनः दिसम्बर, २०१५ के अन्तिम सप्ताहमें जयपुर गये और जींणमाता, श्यामखाटू तथा सालासर हनुमान्‌के पुनः दर्शनका लाभ लिया। उसी समय हमने माँसे प्रार्थना की कि हमारी बेटीकी नौकरी सहायक प्राध्यापक पदहेतु छत्तीसगढ़ लोकसेवा आयोगमें पिछले छः सालसे लम्बित है, उसे निराकृतकर सफलता दिलानेकी कृपा करें।

३ जनवरी २०१६ को हम बिलासपुर वापस आ गये। ठीक उसके तीन सप्ताह बाद ही २८ जनवरी २०१६ को हमें सूचना मिली कि बेटीका चयन सहायक प्राध्यापकके पदपर हो गया है। उसकी नियुक्ति भी शीघ्र हो गयी। हमने इसकी उम्मीद छोड़ दी थी। धन्य है माँ! आपकी कृपा बनी रहे। जींण माताकी जय हो, जय हो, जय हो।

इस घटनाके बाद माताजीने दूसरी बार और कृपा की, जो अप्रत्याशित है। इस घटनासे अभिभूत होकर बेटीने अपने पतिके साथ माताजीके दर्शन करनेका निश्चय किया। मुझे भी उनके साथ ५ अगस्त २०१८ को जयपुर जाना था, किंतु परिवारमें कुछ दुर्घटना होनेके कारण मेरी यात्रा तीसरी बार नहीं हो सकी। निर्धारित तिथिमें बेटी-दामाद दोनोंने यात्रा की। बेटीने माँके दर्शनकर मेरी भेंट उनकी चरणोंमें अर्पित कर दी। बेटी-दामाद १२ अगस्तको वापस बिलासपुर आ गये। उनके आनेके सप्ताहभरके भीतर ही १६ अगस्त २०१८ दिन गुरुवारको एक पैकेट मिला, जो अमेजॉन डॉट कॉम कुरियर सर्विसके माध्यमसे 'गुनू सेल्स एजेन्सी' जयपुरद्वारा भिजवाया गया था।

पैकेट खोलनेपर पता चला कि वह एक खूबसूरत राखी है, जिसमें तीन मोती जड़े हुए हैं। दस दिन बाद २६ अगस्त २०१८ को राखी त्योहार है। हम यह सोचनेके लिये विवश हो गये कि राखी किसने भेजी? जयपुरमें न तो कोई रिश्तेदार है, न जान-पहचानका, न कोई इष्ट-मित्र। यह जाननेके लिये हमने 'गुनू सेल्स एजेन्सी, जयपुर' नामक कुरियर-सर्विसको फोन किया, जिसके माध्यमसे यह महँगी राखी भेजी गयी थी। कुरियर-कर्मीने आर्डर नम्बर पूछा। वह किसी प्रकारका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दे सका। तीन दिनों बाद पुनः फोन किया। वह बोला दफ्तर बन्द है और कल ११ बजे प्रातः बताया जा सकेगा। फोन रखनेके २-३ मिनट बाद ही अज्ञात व्यक्तिने फोनपर सूचना दी कि भेजनेवाले और पानेवालेका नाम आर०एस० पाण्डेय बिलासपुर छत्तीसगढ़ है। पैकेटपर अंकित पता और फोन नम्बर जयपुरमें किसीके पास नहीं था। इस बातकी चर्चा मैंने बेटीसे की। उसने अपना मत व्यक्त किया कि यह राखी माँ जींणने ही भिजवायी होगी; क्योंकि आप उनके तीसरे दर्शनसे वंचित हो गये थे। अब सभी तर्क-कुतर्कको विराम लग चुका था। जींण मातापर मेरी शुरूसे आस्था, श्रद्धा और भक्ति रही है। इसलिये यह माननेके लिये हम विवश थे कि जींणमाताने ही अपनी असीम कृपा बरसाते हुए आर०एस० पाण्डेय यानी कि मुझको राखी भेजी है।

धन्य है माँ जींणमाताकी कृपा। माँपर आस्था होना चाहिये, उनकी कृपा-अनुग्रह सबपर बरसता रहे, यही हमारी कामना है।—**रामसनेही पाण्डेय**

पढ़ो, समझो और करो

(१)

महापुरुषोंका जीवन

फील्ड मार्शल के० एम० करिअप्पा भारतके प्रथम कमांडर इन चीफ (सेनाध्यक्ष) थे। मैं उन कतिपय भाग्यशाली व्यक्तियोंमेंसे एक हूँ, जिनका किसी भी रूपमें उनसे सम्बन्ध रहा है। घटना अस्सीके दशककी है, उस समय मैं बँगलोरमें आर्मीमें हवलदारके रूपमें नियुक्त था। मेरी ड्यूटी राशन-वितरणवाली कैंटीनमें थी। करिअप्पा सर भी सेवानिवृत्त होकर बँगलोरमें ही उस समय रह रहे थे। उनका सेवक राशन कार्ड लेकर महीनेकी नियत तिथिको आता और परिवारके सदस्योंकी संख्याके अनुसार निर्धारित दो किलो चीनी लेकर चला जाता।

एक बार राशन-वितरणके लिये नये कर्मचारीकी नियुक्ति हुई, उसने करिअप्पा सरके सम्मानमें निर्धारित मात्रासे अधिक चीनी दे दी। सेवक चीनी लेकर जब घर पहुँचा तो करिअप्पा सरने उससे पूछा कि यह चीनी ज्यादा कैसे है? सेवकने कहा कि नये कर्मचारीने तौलकर दी है। यह सुनकर करिअप्पा बहुत नाराज हुए और चीनी लेकर सेवकके साथ कैंटीनमें आये। अपने पूर्व सेनाध्यक्षको सामने देखकर सारे कर्मचारी हक्के-बक्के-से रह गये। उन्हें सपनेमें भी आशा नहीं थी कि इतना बड़ा अधिकारी उनके पास आ खड़ा होगा; हम सब निःशब्द थे, कैंटीन प्रभारीने बड़ी मुश्किलसे कहा—सर आप!...

करिअप्पा सरका गुस्सा फूटा—'यह चीनी किसने तौली?' राशन तौलनेवाले कर्मचारीने हाथ जोड़ लिये। वे बोले—इसे फिरसे तौलो। उसने तौला तो लगभग पचास ग्राम चीनी ज्यादा थी। सरने पूछा—मेरे यहाँ ज्यादा चीनी क्यों भेजी गयी? हम सब मौन खड़े और थर-थर काँप रहे थे कि कहीं कोर्टमार्शल न हो जाय!

हमें डरा देखकर करिअप्पा सर हँसने लगे और बोले—डरो मत, सच्ची बात बताओ। उन्हें हँसते देख हम सबका भय दूर हुआ। तौलनेवाले कर्मचारीने कहा—सर! कहीं कम न हो, इसलिये मैंने थोड़ी चीनी तौलनेके बाद और डाल दी थी। वे बोले, तुम किस डिपार्टमेंटसे आये हो? वह बोला—सर! आर्टिलरी से। वे बोले—क्या जिस एंगिलपर निशाना लगानेके लिये कहा जाता था, उससे एक डिग्री अधिकपर निशाना लगाते थे? वह बोला—नहीं सर। करिअप्पा सर बोले—तो फिर यहाँ अधिक क्यों तौलते हो? उसने सिर झुकाकर कहा—सर! आप हमारे जनरल हैं, ऐसा मैंने आपके प्रति सम्मानमें किया है, मेरी गलतीकी माफी दी जाय।

जनरल करिअप्पा बोले—यहींसे भ्रष्टाचारकी शुरुआत होती है, मैं तुम्हारा जनरल था, परंतु भारतमाताका एक सिपाही हूँ और भारतमाताका हर सिपाही उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना जनरल करिअप्पा। इसलिये आगेसे कोई भेदभाव नहीं होना चाहिये। फिर हँसते हुए बोले—नहीं तो सजा मिलेगी।

उन्हें हँसते देख हमारा डर दूर हुआ। हमने पूछा—सर! मात्र पचास ग्राम चीनी अधिक थी, फिर भी आपको बिना तौले कैसे पता चल गया? वे अपने साथ एक डिब्बा लाये थे, उन्होंने कहा—इस डिब्बेमें यह चीनी भरो। डिब्बेमें चीनी भरी गयी तो थोड़ी-सी चीनी बाहर बच गयी। उन्होंने कहा—इसीसे मैंने जान लिया कि चीनी अधिक है।

यह घटना मेरे समक्ष घटी थी, मैं इसका साक्षी रहा हूँ। वास्तवमें महापुरुषोंके जीवनमें छोटी-छोटी बातोंका भी बड़ा महत्त्व होता है। ईमानदारी, नियम-निष्ठा और अनुशासन महापुरुषोंके जीवनका अंग होता है, जो उनके प्रत्येक कार्यमें परिलक्षित होता है।

—सेवानिवृत्त हवलदार घनश्याम सिंह राठौर

(२)

संघर्ष ही सफलताकी सीढ़ी है

बुकर टी० वाशिंगटन अमेरिकाके एक प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री प्रखर वक्ता, लेखक और अनेक राष्ट्रपतियोंके सलाहकार थे। बचपनमें उनका परिवार इतना गरीब था कि जीवन-यापनके लिये उन्हें बारह वर्षकी अवस्थामें ही कोयलेकी खानमें काम करना पड़ा था। यह सन् १८७८ ई० के लगभगकी बात है, उस समय अमेरिकामें

श्वेत और अश्वेतका भेदभाव जोरोंपर था। अश्वेत लोगोंको श्वेत लोगोंके स्कूलमें प्रवेश नहीं मिलता था।

एक दिन जब बालक वाशिंगटन खानमें काम कर रहे थे, तो दो मजदूरोंके वार्तालापसे उन्हें यह ज्ञात हुआ कि वर्जीनियामें एक नया स्कूल खुला है, जो अश्वेत बालकोंको शिक्षा प्रदान करता है। वाशिंगटनकी प्रसन्नताकी सीमा न रही। परंतु वर्जीनियातक पहुँचना आसान नहीं था। वर्जीनियाकी वहाँसे दूरी लगभग ७५० किमी थी। वाशिंगटनके पास न वहाँतक पहुँचनेके लिये पैसे थे, न पहननेके लिये अच्छे कपड़े; थी तो सिर्फ शिक्षाके प्रति एक उत्कट ललक।

माँने बड़ी मुश्किलसे अनुमति और रास्तेके लिये कुछ भोजन-सामग्री दी। चचेरे भाईने कुछ पैसे दिये और वह बालक चल पड़ा एक अनजान शहरकी ओर—एक अपरिचित मार्गपर, जहाँ उसके समक्ष पहाड़ जैसी बाधाएँ थीं, पर मनमें समुद्र-जैसी उत्साहकी लहरें भी थीं। पैदल और लोगोंसे लिफ्ट माँगकर चलता हुआ वह बहुत दिनोंके बाद एक अनजान शहर रिचमण्डमें जा पहुँचा, उस समय न तो उसके पास भोजन शेष था और न पैसे। लोगोंसे पूछनेपर पता चला कि अपनी पढ़ाईके लिये वह जहाँ जा रहा है, वह अभी लगभग सवा सौ किमी० दूर है। वहाँ उसने कई लोगोंसे भोजन और सोने भरकी जगह माँगी, परंतु बिना पैसेके कोई उसे भोजन या ठहरनेकी जगह देनेको तैयार नहीं था, निदान थक-हारकर वह उस शहरसे आगे अपने गन्तव्यकी ओर भूखा ही चल पड़ा अन्तमें अशक्त होकर फुटपाथपर ही सो गया।

प्रातः उठनेपर उसने देखा कि जहाँ वह सो रहा है, उससे कुछ दूरीपर एक समुद्री जहाज है। वह धीरे-धीरे जहाजके निकट गया और देखा कि उसमेंसे कच्चा लोहा उतारा जा रहा है, वह जहाजके कैप्टनके पास गया और उससे अनुरोध किया कि वे उसे भी कच्चा लोहा उतारनेके काममें लगा लें, जिससे वह कुछ पैसे कमाकर भोजन कर सके। कैप्टन करुण-हृदय व्यक्ति था। उसने बालक वाशिंगटनको माल उतारनेका कार्य दे दिया। उसके कार्यसे प्रसन्न होकर कैप्टनने उससे कह दिया कि तुम जबतक चाहो, जहाजपर कार्य कर सकते हो। वाशिंगटन यही चाहता भी था, क्योंकि आगेकी यात्रा और भोजन-सामग्रीके लिये उसको पैसोंकी आवश्यकता थी। इस प्रकार कुछ दिनोंतक काम करनेके बाद जब पैसोंकी व्यवस्था हो गयी, तो उसने जहाजके कैप्टनको उसकी सहृदयताके लिये धन्यवाद दिया और अपने गन्तव्यकी ओर प्रस्थान किया।

कई दिनोंकी यात्राके बाद वाशिंगटन वर्जीनिया पहुँच गये और लोगोंसे पूछते-पूछते उस विद्यालयमें पहुँचे, जहाँ अश्वेत बालकोंको शिक्षा दी जाती थी। विद्यालय-भवनको देखकर वे भाव-विभोर हो गये, उन्हें अपनी स्थितिका भान न रहा। उस समय उनके कपड़े मैले हो चुके थे, जूते फटे और बाल बढ़े हुए थे। शरीर धूल और पसीनेसे भरा था। वे उसी स्थितिमें विद्यालयकी प्रधानाध्यापिकाके सामने जा पहुँचे और उनसे विद्यालयमें प्रवेश देनेका निवेदन किया। परंतु प्रधानाध्यापिकाने उनकी बातोंमें कोई रुचि नहीं ली।

वाशिंगटन प्रतिदिन विद्यालय जाते और प्रधानाध्यापिकाके कमरेके आगे खड़े हो जाते। वे अन्य बच्चोंको प्रवेश मिलते देखते, पर निराश न होते, पुनः अगले दिन प्रधानाध्यापिकाके कक्षके बाहर खड़े हो जाते। एक दिन प्रधानाध्यापिकाने उन्हें बुलाया और उनसे बगलवाले कमरेको साफ करनेको कहा। वाशिंगटन ने उस कार्यको अपनी प्रवेश-परीक्षा समझा और तुरन्त स्वीकार कर लिया। उन्होंने कमरेके फर्श और आलमारियोंको चार बार साफ किया और इस प्रकार चमका दिया कि वहाँ धूलका एक कण भी न रहा। जब प्रधानाध्यापिकाने कमरेका निरीक्षण किया तो उसकी सफाई देख उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, फिर उन्होंने अपना रूमाल रगड़कर देखा, उन्हें कहीं धूलका एक कण भी नहीं मिला। उन्होंने वाशिंगटनको शाबाशी और विद्यालयमें प्रवेशकी संस्तुति दी। इस प्रकार उनकी तपस्या—उनके संघर्षका एक अध्याय सफलताके साथ पूर्ण हुआ।

आगे चलकर यही बुकर टी० वाशिंगटन अमेरिकाके महान् शिक्षाविद् बने। उन्होंने अश्वेतोंकी शिक्षाके लिये

बहुत बड़ा काम किया। उनका जीवन इस बातकी प्रेरणा देता है कि कितना भी कठिन लक्ष्य क्यों न हो, संघर्षसे उसे प्राप्त किया जा सकता है। [My struggle for an education by Booker T. Washington के आधारपर]

(३)

धूम्रपानके दुष्प्रभाव, मुक्तिके उपाय एवं होम्योपैथिक चिकित्सा

भारतमें आज १२ करोड़ व्यक्ति धूम्रपान की लतसे ग्रसित हैं, जिनमेंसे १ करोड़ व्यक्ति असमय काल-कवलित हो जाते हैं। धूम्रपान विश्वकी सबसे बड़ी, रोकी जानेयोग्य बीमारियोंमें-से एक है।

कोरोना महामारी के कारण इस लॉकडाउनमें बहुतायत लोगोंने तम्बाकू-उत्पादोंकी अनुपलब्धता या स्वास्थ्यके प्रति जागरूकताके कारण धूम्रपानसे मुक्तिका संकल्प लिया। धूम्रपान करनेवालेके फेफड़े अत्यन्त कमजोर हो जाते हैं, जिससे उसके शरीरकी प्रतिरोधक क्षमता भी अत्यन्त क्षीण हो जाती है और ऐसे व्यक्तियोंके कोरोनासे ग्रसित होने और उससे मृत्युतक होनेकी सम्भावनाएँ बहुत ज्यादा होती हैं। शोधसे ज्ञात हुआ है कि इस कोरोना महामारीकी दूसरी लहरमें धूम्रपान करनेवालोंकी मृत्यु-दर अत्यधिक रही है।

तम्बाकूसे मुक्तिके लिए जो सबसे जरूरी तत्त्व है; वह है दृढ़ इच्छाशक्ति एवं आत्मसंयम। धूम्रपानके आदती व्यक्तिको जबतक स्वयं इससे छुटकारा पानेकी इच्छाशक्ति पैदा नहीं होगी, तबतक कोई दवा या अन्य उपायोंसे उसे मुक्त नहीं कराया जा सकता।

धूम्रपानसे होनेवाले दुष्प्रभाव—उच्च रक्तचाप, हृदयकी धमनियोंमें रक्त-संचारकी कमीसे हृदयाघात एवं पक्षाघात (स्ट्रोक), साँस फूलना, खाँसी एवं बलगम आना, अनियन्त्रित अस्थमाके दौरे, आँखोंमें मोतियाबिंद एवं पर्देका क्षरण, सूँघने एवं स्वादकी शक्तिका ह्रास, पीले दाँत, दाँतों का क्षय, बदबूदार साँसें एवं होंठ, जीभ, गले, स्वरतन्त्र या फेफड़ेका कैंसर।

धूम्रपानकी लत छोड़नेके लिये—किसी भी नशेको अचानक छोड़नेसे शरीरपर क्षणिक अथवा दीर्घकालिक नकारात्मक प्रभाव भी पड़ते हैं, खासकर जब आप लम्बे समयसे व्यसनी रहे हैं, इसलिये दृढ़ इच्छाके साथ ही अपने चिकित्सकसे परामर्श लेना ज्यादा उचित होगा। इसके साथ-साथ कुछ अन्य जरूरी ध्यान रखनेयोग्य बातें—

१-धूम्रपानसे होनेवाले दुष्प्रभावोंकी जानकारी प्राप्त करें, २-धूम्रपानकी लत छोड़नेके लिये किसी अन्य नशेका सहारा कतई न लें, ३-धूम्रपानसे मुक्त हुए लोगोंका सहारा लें, अपने नजदीकी मित्रों या परिवारीजनोंको अपनी इस मुक्तिके संकल्पके बारेमें बतायें, जिससे वे आपकी इच्छाशक्तिको बनाये रखनेमें सहायक सिद्ध हों, ४-अपने पसन्दीदा कार्योंमें मन लगायें, प्रकृतिकी नैसर्गिकताका भरपूर आनन्द उठायें, ५-प्रतिदिन प्राणायाम, कपालभाति, योग-ध्यान एवं व्यायाम करें, ६-धूम्रपानके स्थानों एवं उस मित्र-मण्डलीसे कुछ दिन दूरी बनाना श्रेयस्कर होगा, ७-जब भी लत महसूस हो, गुनगुने पानीका सेवन करें और गहरी साँस लेकर अपनेसे कहें—मैं यह कर सकता हूँ, ८-मनोचिकित्सककी सलाहपर कुछ समयतक निम्न निकोटिनयुक्त चुइंगम, स्प्रेका एवं अन्य उपायोंका सेवन भी नशामुक्तिमें सहायक सिद्ध होता है।

धूम्रपान या तम्बाकू छोड़नेपर तुरन्त आनेवाली दिक्कतें (विथड्रॉल सिम्प्ट्स)—चिड़चिड़ापन, काममें मन न लगना, हाथोंमें कम्पन, खूब पसीना आना, नींद न आना, घबराहट, धड़कन बढ़ जाना, सरमें दर्द एवं बार-बार प्यास लगना इत्यादि। इस समय मनोचिकित्सक, चिकित्सकके परामर्श की आवश्यकता होती है। ये विथड्रॉल सिम्प्ट्स २० से २५ दिन के अंदर धीरे-धीरे समाप्त हो जाते है।

होम्योपैथिक सहायता—तम्बाकूके व्यसनसे छुटकारा पानेके लिये होम्योपैथीमें कई दवाएँ उपलब्ध हैं, जिनका कुशल होम्योपैथिक चिकित्सककी सलाहपर सेवन आशातीत सफलता दिलाता है।

डैफने इंडिका, कैलेडिम, नक्स वोमिका, डिजिटेलिस, टैबेकम, टैरेन्तुला, एबीज नायग्रा, काली फॉस, पैसिफ्लोरा, एवीना सैटाइवा-जैसी कई दवाएँ रोगियोंके लक्षणके अनुसार देनेपर तम्बाकूके नशेसे मुक्तिमें मददगार साबित होती हैं।—**डॉ० अनिल कुमार गुप्ता,** होम्योपैथिक चिकित्साधिकारी

मनन करने योग्य

लक्ष्मीजीको कैसे बुलायें!

एक दिन लक्ष्मीजी इन्द्रके दरवाजेपर पहुँचीं। बोलीं—'हे इन्द्र! मैं तुम्हारे यहाँ निवास करना चाहती हूँ।'

इन्द्रने आश्चर्यसे कहा—'कमले! आप तो असुरोंके यहाँ बड़े आनन्दपूर्वक रहती थीं और आज बिना बुलाये मेरे द्वारपर पधारी हैं। सो देवि! इसका कारण मुझे समझाकर कहिये।'

लक्ष्मीजीने कहा— 'इन्द्र! कुछ समय पूर्व असुर बड़े धर्मात्मा थे। वे कर्तव्यपरायण रहते थे; परंतु उनके ये सद्गुण धीरे-धीरे नष्ट होने लगे।'

'प्रेमके स्थानपर ईर्ष्या-द्वेष और क्रोध-कलहका उनके परिवारोंमें निवास रहने लगा। इन दुर्गुणोंमें भला मैं कैसे रह सकती हूँ?'

'मैंने सोचा कि इस दूषित वातावरणमें अब मेरा निर्वाह नहीं हो सकता। इसलिये दुराचारी असुरोंको छोड़कर मैं तुम्हारे यहाँ चली आयी हूँ।'

इन्द्र चकित होकर बोले—'हे भगवती! जिनके कारण आपने असुरोंको छोड़ा है, कृपा करके उन त्रुटियोंको विस्तारपूर्वक मुझे बतलाइये, जिससे मैं भविष्यमें सावधान रहूँ।'

लक्ष्मीजीने कहा—'इन्द्र! असुर लोग वृद्ध और गुरुजनोंके सम्मानका विचार न करके उनकी बराबरीके आसनपर बैठते थे। सत्कार, शिष्टाचार और अभिवादनकी बात वे लोग भूल गये थे। लड़के माता-पितासे मुँहजोरी करने लगे थे। शिष्य आचार्योंकी तरफ मुँह मटकाने लगे। समाजकी समस्त मान-मर्यादाएँ जाती रहीं।'

'वे लोग सुपात्रोंको दान और लँगड़े-लूले भिखारियोंको भिक्षा न देकर धनको विलास—ऐश-आराममें खर्च करने लगे। घरके बच्चोंकी परवा न करके वे असुर बूढ़े-बूढ़े पुरुष चुपचाप मधुर मिष्टान्न अकेले ही खाते।

असुरलोग फलदार और छायादार हरे-भरे वृक्षोंको काटने लगे। दिन चढ़ेतक सोते रहते थे, प्रहर रात्रि गयेतक खाते रहते, भक्ष्य और अभक्ष्य अन्नका विचार न करते। सत्कर्म करना तो दूर, दूसरोंको करते देखते तो उसमें भी विघ्न उपस्थित करते।'

'स्त्रियाँ शृंगार, आलस्य और व्यसनोंमें व्यस्त रहने लगीं। घरमें अनाजका अनादर होने लगा, अन्नको चूहे खाकर नष्ट करने लगे। खाद्य पदार्थ खुले पड़े रहते, जिन्हें कुत्ते-बिल्ली चाटते।'

'घरमें ही पापाचार, स्वार्थ, पक्षपात बढ़ गया। असुरोंकी वृत्ति मादक द्रव्योंमें, जुए-शराब-मांसमें, नाच-तमाशोंमें बढ़ने लगी। उनके ऐसे आचरण देखकर दुखी होकर एक दिन मैं चुपचाप असुरोंके घरोंसे चली आयी। अब वहाँ दरिद्रताका ही निवास होगा।'

'हे इन्द्र! मैं परिश्रमी, मितव्ययी, जागरूक और नियमित उद्योग करते रहनेवालेके यहाँ निवास करती हूँ। जबतक तुम्हारा आचरण धर्मपरायण रहेगा, तबतक तुम्हारे यहाँ मैं बनी रहूँगी।' लक्ष्मीके इस कथनने इन्द्रको एक नयी शक्ति दी। लक्ष्मीजीने इन्द्रसे कहा—

जितकाशिनि शूरे च संग्रामेष्वनिवर्तिनि।
निवसामि मनुष्येन्द्रे सदैव बलसूदन॥
धर्मनित्ये महाबुद्धौ ब्रह्मण्ये सत्यवादिनि।
प्रश्रिते दानशीले च सदैव निवसाम्यहम्॥
असुरेष्ववसं पूर्वं सत्यधर्मनिबन्धना।
विपरीतांस्तु तान् बुद्ध्वा त्वयि वासमरोचयम्॥

बलसूदन! संग्रामसे पीछे न हटनेवाले तथा विजयसे सुशोभित होनेवाले शूरवीर नरेशके शरीरमें भी मैं सदा ही मौजूद रहती हूँ। नित्य धर्माचरण करनेवाले, परम बुद्धिमान्, ब्राह्मण-भक्त, सत्यवादी, विनयी तथा दानशील पुरुषमें भी मैं सदा ही निवास करती हूँ। सत्य और धर्मसे बँधकर पहले मैं असुरोंके यहाँ रहती थी। अब उन्हें धर्मके विपरीत देखकर मैंने तुम्हारे यहाँ रहना पसन्द किया है।

इन्द्रने बड़ी श्रद्धा और आदरपूर्वक लक्ष्मीजीको अभिवादन किया और कहा कि मैं ऐसा कोई अधर्ममय आचरण नहीं करूँगा, जिससे नाराज होकर आपको मेरे घरसे जाना पड़े।' **[महाभारत, शान्तिपर्व]**

नवीन विशिष्ट प्रकाशन—शीघ्र प्रकाशय

श्रीमद्भगवद्गीता [सचित्र, ग्रन्थाकार] गुजराती—प्रस्तुत ग्रंथ हिन्दीके बाद अब गुजरातीमें भी प्रसंगानुकूल 129 आकर्षक चित्रोंके साथ चार रंगोंमें आर्ट पेपरपर पहली बार प्रकाशित की जा रही है।

પ્રથમ અધ્યાય

वेदव्यासजीद्वारा संजयको दिव्यदृष्टि

॥ ॐ શ્રીપરમાત્મને નમઃ ॥

શ્રીમદ્ભગવદ્ગીતા

પ્રથમ અધ્યાય

ધૃતરાષ્ટ્ર ઉવાચ

ધર્મક્ષેત્રે કુરુક્ષેત્રે સમવેતા યુયુત્સવઃ ।
મામકાઃ પાણ્ડવાશ્ચૈવ કિમકુર્વત સંજય ॥

ધૃતરાષ્ટ્ર બોલ... ...ઠા થયેલા, યુદ્ધના ઇચ્છુક, મારા ત...

श्रीमद्भगवद्गीता
के एक पृष्ठका नमूना (कोड 2269)
मूल्य ₹ 250, डाकखर्च ₹ 70

દૃષ્ટ્વા તુ પાણ્ડવાનીકં વ્યૂઢં દુર્યોધનસ્તદા ।
આચાર્યમુપસઙ્ગમ્ય રાજા વચનમબ્રવીત્ ॥

સંજય બોલ્યા : તે વખતે રાજા દુર્યોધને વ્યૂહમાં ગોઠવાયેલી પાંડવોની સેનાને જોયા પછી દ્રોણાચાર્ય પાસે જઈને આ વચન કહ્યાં : ॥ ૨॥

૧૫
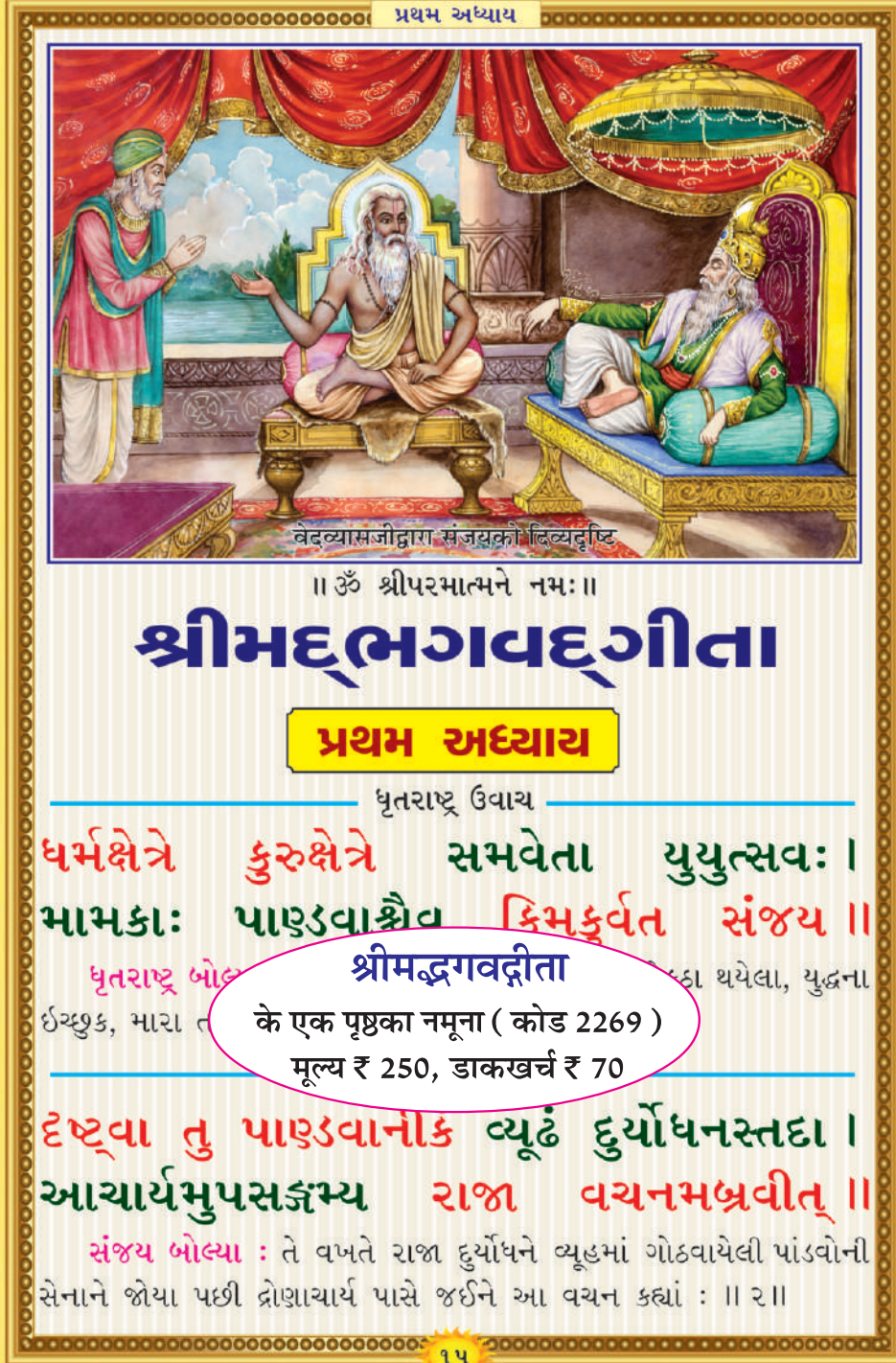
नोट : अंग्रेजीमें भी शीघ्र प्रकाशित करनेकी योजना है।

प्र० ति० 20-06-2021
रजि० समाचारपत्र—रजि०नं० 2308/57 पंजीकृत संख्या—NP/GR–13/2020–2022
LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT | LICENCE No. WPP/GR–03/2020–2022

कल्याण-पाठकोंके लिये

कोविड 19 के कारण कल्याणके बहुतसे पाठक कल्याणके सदस्य न बन पानेके कारण कल्याणके विशेषाङ्क **'श्रीराधा-माधव-अङ्क'** तथा **'बोधकथा-अङ्क'**का संग्रह/पठन करनेसे वंचित रह गये। वस्तुत: ये दोनों विशेषाङ्क पठनीय तथा संग्रहणीय हैं और अब ग्रंथरूपमें उपलब्ध हैं।

श्रीराधा-माधव अङ्क (कोड 2235)—प्रेम भगवान्का साक्षात् स्वरूप है, जिसको विशुद्ध सच्चे प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, उसने परमात्म-प्रभुको प्राप्त कर लिया। श्रीराधा-माधव-भाव दिव्याति-दिव्य प्रेम-माधुर्य सुधारसका अगाध, अनन्त, असीम महासमुद्र है। 'श्रीराधा' श्रीकृष्ण-स्वरूप हैं और 'श्रीकृष्ण 'श्रीराधास्वरूप हैं। ये दोनों स्वरूप शरीर और छायाके समान परस्पर भिन्न-अभिन्न हैं। वस्तुत: श्रीराधाके माधुर्यको केवल माधव जानते हैं और माधवके माधुर्यको केवल राधा जानती हैं।

इन्हीं सब माधुर्यपूर्ण रसधाराओंका परिकलनकर इस श्रीराधा-माधव विशेषांकको प्रकाशित किया गया है। इसमें मुख्य रूपसे राधामाधवतत्त्व-विचार, श्रीराधा-माधवकी उपासनाके विविधरूप, भक्ति-जगत्के श्रीसर्वस्व श्रीराधामाधव, श्यामसुन्दर एवं श्रीराधाजीकी अन्तरंग एवं बाह्य लीला, लीलाके सहचर, वृन्दावन एवं मथुरा धाम तथा राधा-माधवके भक्तवृन्द आदि विषयोंका समावेश हुआ है।
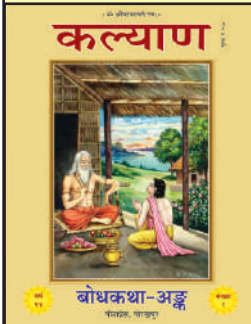
बोधकथा-अङ्क (कोड 2259)—बोधकथाएँ एक सच्चे हितैषी मित्रकी भाँति 'ऐसा करना चाहिये-ऐसा नहीं करना चाहिये'—यह बताकर हमें कर्तव्याकर्तव्यका सहज ही ज्ञान करा देती हैं। बोधका तात्पर्य है, भलीभाँति जानना और समझना। ऐसे प्रेरक-प्रसंग जो हमें अच्छे काममें, भलाईके काममें लगा सकें, मानवताके कल्याणमें लगा सकें, आत्मकल्याणमें प्रवृत्त कर सकें और प्रभुके समीप ले जायँ, बोधकथाके अन्तर्गत समाहित हैं। ऐसी बोधकथाएँ हमें मानवताका पाठ पढ़ाती हैं, सच्चा मानव बननेमें सहयोग प्रदान करती हैं, मानवीय संवेदनाको जगाती हैं, प्रेमका सन्देश देती हैं, भाईचारेकी सीख देती हैं। इस दृष्टिसे इन बोधकथाओंका बड़ा ही महत्त्व है। इस विशेषाङ्कमें ऐसी ही बोधकथाओं, प्रेरक प्रसंगों एवं वृत्तान्तोंका समावेश और संयोजन किया गया है।

अब ये दोनों विशेषांक बिना मासिक अंकोंके अलगसे ग्रन्थरूपमें उपलब्ध हैं। प्रत्येकका मूल्य ₹ 140।

श्रीमद्भागवतकथा आदि शुभ अवसरोंपर प्रसादरूप अथवा विवाहादि मांगलिक कार्यक्रममें भेंटरूप वितरित करनेवालोंके लिये विशेष छूट उपलब्ध है। विशेष छूट पानेके लिये मो०नं० 8188054402, 8188054403 पर सम्पर्क करना चाहिये।